

## अथ षष्ठोऽध्यायः

### अवतरणिका—

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने यह बात पूछी थी कि सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं; परन्तु कर्मसंन्यास और कर्मयोग—इन दोनोंमें कर्मयोग श्रेष्ठ है—‘तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते’ (५।२)।

अब दोनों कल्याण करनेवाले कैसे हैं—इसका वर्णन भगवान्ने पाँचवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकतक किया। फिर सांख्ययोग तथा कर्मयोगके लिये उपयोगी और स्वतन्त्रतासे कल्याण करनेवाले ध्यानयोगका संक्षेपसे दो श्लोकोंमें वर्णन किया तथा अन्तमें अपनी ही तरफसे भक्तिकी निष्ठा बताकर पाँचवें अध्यायके विषयका उपसंहार किया। अब पुनः कर्मयोगकी श्रेष्ठता बतानेके लिये भगवान् छठे अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निरन चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

कर्मफलम्	= कर्मफलका	संन्यासी	= संन्यासी	होता	
अनाश्रितः	= आश्रय न लेकर	च	= तथा	च	= तथा
यः	= जो	योगी	= योगी है	अक्रियः	= (केवल)
कार्यम्	= कर्तव्य	च	= और		क्रियाओंका त्याग
कर्म	= कर्म	निरग्निरः	= (केवल) अग्निका		करनेवाला
करोति	= करता है,		त्याग करनेवाला	न	= (योगी) नहीं
सः	= वही	न	= (संन्यासी) नहीं		होता।

व्याख्या—‘अनाश्रितः कर्मफलम्’—इन पदोंका आशय यह प्रतीत होता है कि मनुष्यको किसी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदिका आश्रय नहीं रखना चाहिये। कारण कि यह जीव स्वयं परमात्माका अंश होनेसे नित्य-निरन्तर रहनेवाला है और यह जिन वस्तु, व्यक्ति आदिका आश्रय लेता है, वे उत्पत्ति-विनाशशील तथा प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाले हैं। वे तो परिवर्तनशील होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं और यह (जीव) रीता-का-रीता रह जाता है। केवल रीता ही नहीं रहता, प्रत्युत उनके रागको पकड़े रहता है। जबतक यह उनके रागको पकड़े रहता है, तबतक इसका कल्याण नहीं

होता अर्थात् वह राग उसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बन जाता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। अगर यह उस रागका त्याग कर दे तो यह स्वतः मुक्त हो जायगा। वास्तवमें यह स्वतः मुक्त है ही, केवल रागके कारण उस मुक्तिका अनुभव नहीं होता। अतः भगवान् कहते हैं कि मनुष्य कर्मफलका आश्रय न रखकर कर्तव्य-कर्म करे। कर्मफलके आश्रयका त्याग करनेवाला तो नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है, पर कर्मफलका आश्रय रखनेवाला बँध जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों शरीर ‘कर्मफल’

हैं। इन तीनोंमेंसे किसीका भी आश्रय न लेकर इनको सबके हितमें लगाना चाहिये। जैसे, स्थूलशरीरसे क्रियाओं और पदार्थोंको संसारका ही मानकर उनका उपयोग संसारकी सेवा-(हित-) में करे, सूक्ष्मशरीरसे दूसरोंका हित कैसे हो, सब सुखी कैसे हों, सबका उद्धार कैसे हो—ऐसा चिन्तन करे; और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता-(समाधि-) का भी फल संसारके हितके लिये अर्पण करे। कारण कि ये तीनों शरीर अपने (व्यक्तिगत) नहीं हैं और अपने लिये भी नहीं हैं, प्रत्युत संसारके और संसारकी सेवाके लिये ही हैं। इन तीनोंकी संसारके साथ अभिन्नता और अपने स्वरूपके साथ भिन्नता है। इस तरह इन तीनोंका आश्रय न लेना ही 'कर्मफलका आश्रय न लेना' है और इन तीनोंसे केवल संसारके हितके लिये कर्म करना ही 'कर्तव्य-कर्म करना' है।

आश्रय न लेनेका तात्पर्य हुआ कि साधनरूपसे तो शरीरादिको दूसरोंके हितके लिये काममें लेना है, पर स्वयं उनका आश्रय नहीं लेना है अर्थात् उनको अपना और अपने लिये नहीं मानना है। कारण कि मनुष्य-जन्ममें शरीर आदिका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत शरीर आदिके द्वारा किये जानेवाले साधनका महत्त्व है। अतः संसारसे मिली हुई चीज संसारको दे दें, संसारकी सेवामें लगा दें तो हम 'संन्यासी' हो गये और मिली हुई चीजमें अपनापन छोड़ दें तो हम 'त्यागी' हो गये।

कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करनेसे क्या होगा? अपने लिये कर्म न करनेसे नयी आसक्ति तो बनेगी नहीं और केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुरानी आसक्ति मिट जायगी तथा कर्म करनेका वेग भी मिट जायगा। इस प्रकार आसक्तिके सर्वथा मिटनेसे मुक्ति स्वतःसिद्ध है। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको पकड़नेका नाम बन्धन है और उनसे छूटनेका नाम मुक्ति है। उन उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे छूटनेका उपाय है—उनका आश्रय न लेना अर्थात् उनके साथ ममता न करना और अपने जीवनको उनके आश्रित न मानना।

**'कार्य कर्म करोति यः'**—कर्तव्यमात्रका नाम कार्य है। कार्य और कर्तव्य—ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। कर्तव्य-कर्म उसे कहते हैं, जिसको हम सुखपूर्वक कर सकते हैं, जिसको जरूर करना चाहिये और जिसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

**'कार्य कर्म'**—अर्थात् कर्तव्य-कर्म असम्भव तो होता ही नहीं, कठिन भी नहीं होता। जिसको करना नहीं

चाहिये, वह कर्तव्य-कर्म होता ही नहीं। वह तो अकर्तव्य (अकार्य) होता है। वह अकर्तव्य भी दो तरहका होता है—(१) जिसको हम कर नहीं सकते अर्थात् जो हमारी सामर्थ्यके बाहरका है और (२) जिसको करना नहीं चाहिये अर्थात् जो शास्त्र और लोकमर्यादाके विरुद्ध है। ऐसे अकर्तव्यको कभी भी करना नहीं चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मफलका आश्रय न लेकर शास्त्रविहित और लोकमर्यादाके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मको निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये ही करना चाहिये।

कर्म दो प्रकारसे किये जाते हैं—कर्मफलकी प्राप्तिके लिये और कर्म तथा उसके फलकी आसक्ति मिटानेके लिये। यहाँ कर्म और उसके फलकी आसक्ति मिटानेके लिये ही प्रेरणा की गयी है।

**'स संन्यासी च योगी च'**—इस प्रकार कर्म करनेवाला ही संन्यासी और योगी है। वह कर्तव्य-कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है, इसलिये वह 'संन्यासी' है और उन कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए वह सुखी-दुःखी नहीं होता अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है, इसलिये वह 'योगी' है।

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेसे उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका नाश हो जाता है अर्थात् उसका न तो कर्मके साथ सम्बन्ध रहता है और न फलके साथ ही सम्बन्ध रहता है, इसलिये वह 'संन्यासी' है। वह कर्म करनेमें और कर्मफलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहता है, इसलिये वह 'योगी' है।

यहाँ पहले 'संन्यासी' पद कहनेमें यह भाव मालूम देता है कि अर्जुन स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानते थे। इसीसे अर्जुनने (दूसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें) कहा था कि युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना श्रेष्ठ है। इसलिये यहाँ भगवान् पहले 'संन्यासी' पद देकर अर्जुनसे कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तू जिसको संन्यास मानता है, वह वास्तवमें संन्यास नहीं है, प्रत्युत जो कर्मफलका आश्रय छोड़कर अपने कर्तव्यरूप कर्मको केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-बुद्धिसे करता है, वही वास्तवमें सच्चा संन्यासी है।

**'न निरग्निः'**—केवल अग्निरहित होनेसे संन्यासी नहीं होता अर्थात् जिसने ऊपरसे तो यज्ञ, हवन आदिका त्याग कर दिया है, पदार्थोंका त्याग कर दिया है, पर भीतरमें क्रियाओं और पदार्थोंका राग है, महत्त्व है, प्रियता है, वह

कभी सच्चा संन्यासी नहीं हो सकता।

**‘न अक्रियः’**—लोगोंकी प्रायः यह धारणा रहती है कि जो मनुष्य कोई भी क्रिया नहीं करता, स्वरूपसे क्रियाओं और पदार्थोंका त्याग करके वनमें चला जाता है अथवा निष्क्रिय होकर समाधिमें बैठा रहता है, वही योगी होता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि जबतक मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके आश्रयका त्याग नहीं करता और मनसे उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, तबतक वह कितना ही अक्रिय हो जाय, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध कर ले, पर वह योगी नहीं हो सकता। हाँ, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध होनेसे उसको तरह-तरहकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; पर कल्याण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह हुआ कि केवल बाहरसे अक्रिय होनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता। योगी वह होता है, जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं-(कर्मफल-) का आश्रय न रखकर कर्तव्य-कर्म करता है।

मनुष्योंमें कर्म करनेका एक वेग रहता है, जिसको कर्मयोगकी विधिसे कर्म करके ही मिटाया जा सकता है, अन्यथा वह शान्त नहीं होता। प्रायः यह देखा गया है कि जो साधक सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरत होकर एकान्तमें रहकर जप-ध्यान आदि साधन करते हैं, ऐसे एकान्तप्रिय अच्छे-अच्छे साधकोंमें भी लोगोंका उद्धार करनेकी प्रवृत्ति बड़े जोरसे पैदा हो जाती है और वे एकान्तमें रहकर साधन करना छोड़कर लोगोंके उद्धारकी क्रियाओंमें लग जाते हैं।

सकामभावसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका वेग बढ़ता है। यह वेग तभी शान्त होता है, जब साधक अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी कोई कर्म नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म केवल लोकहितार्थ ही करता है। इस तरह केवल निष्कामभावसे दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका वेग शान्त हो जाता है और समताकी प्राप्ति हो जाती है। समताकी प्राप्ति होनेपर समरूप परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

### विशेष बात

शरीर-संसारमें अहंता-ममता करना कर्मका फल नहीं है। यह अहंता-ममता तो मनुष्यकी मानी हुई है; अतः यह बदलती रहती है। जैसे, मनुष्य कभी गृहस्थ होता है तो वह अपनेको मानता है कि ‘मैं गृहस्थ हूँ’ और वही जब

साधु हो जाता है, तब अपनेको मानता है कि ‘मैं साधु हूँ’ अर्थात् उसकी ‘मैं गृहस्थ हूँ’ यह अहंता मिट जाती है। ऐसे ही ‘यह वस्तु मेरी है’ इस प्रकार मनुष्यकी उस वस्तुमें ममता रहती है और वही वस्तु जब दूसरेको दे देता है, तब उस वस्तुमें ममता नहीं रहती। इससे यह सिद्ध हुआ कि अहंता-ममता मानी हुई है, वास्तविक नहीं है। अगर वह वास्तविक होती, तो कभी मिटती नहीं—**‘नाभावो विद्यते सतः’** और अगर मिटती है तो वह वास्तविक नहीं है—**‘नासतो विद्यते भावः’** (गीता २।१६)।

अहंता-ममताका जो आधार है, आश्रय है, वह तो साक्षात् परमात्माका अंश है। उसका कभी अभाव नहीं होता। उसकी सब जगह व्यापक परमात्माके साथ एकता है। उसमें अहंता-ममताकी गन्ध भी नहीं है। अहंता-ममता तो प्राकृत पदार्थोंके साथ तादात्म्य करनेसे प्रतीत होती है। तादात्म्य करने और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। जैसे—‘मैं गृहस्थ हूँ’, ‘मैं साधु हूँ’—ऐसा माननेमें और ‘वस्तु मेरी है’, ‘वस्तु मेरी नहीं है’—ऐसा माननेमें अर्थात् अहंता-ममताका सम्बन्ध जोड़नेमें और छोड़नेमें यह मनुष्य स्वतन्त्र और समर्थ है। इसमें यह पराधीन और असमर्थ नहीं है; क्योंकि शरीर आदिके साथ सम्बन्ध स्वयं चेतनने जोड़ा है, शरीर तथा संसारने नहीं। अतः जिसको जोड़ना आता है, उसको तोड़ना भी आता है।

सम्बन्ध जोड़नेकी अपेक्षा तोड़ना सुगम है। जैसे, मनुष्य बाल्यावस्थामें ‘मैं बालक हूँ’ और युवावस्थामें ‘मैं जवान हूँ’—ऐसा मानता है। इसी तरह वह बाल्यावस्थामें ‘खिलौने मेरे हैं’—ऐसा मानता है और युवावस्थामें ‘रुपये-पैसे मेरे हैं’—ऐसा मानता है। इस प्रकार मनुष्यको बाल्यावस्था आदिके साथ और खिलौने आदिके साथ खुद सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। परन्तु इनके साथ सम्बन्धको तोड़ना नहीं पड़ता, प्रत्युत सम्बन्ध स्वतः टूटता चला जाता है। तात्पर्य है कि बाल्यावस्था आदिकी अहंता शरीरके रहने अथवा न रहनेपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी मान्यतापर निर्भर है। ऐसे ही खिलौने आदिकी ममता वस्तुके रहने अथवा न रहनेपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत मान्यतापर निर्भर है। इसलिये कर्मफल (शरीर, वस्तु आदि) के रहते हुए भी उसका आश्रय सुगमतापूर्वक छूट सकता है।

स्वयं नित्य है और शरीर-संसार अनित्य है। नित्यके साथ अनित्यका सम्बन्ध कभी टिक नहीं सकता, रह नहीं

सकता। परन्तु जब स्वयं अहंता-ममताको पकड़ लेता है, तब अहंता-ममता भी नित्य दीखने लग जाती है। फिर उसको छोड़ना कठिन मालूम देता है; क्योंकि उसने नित्य-स्वरूपमें अनित्य अहंता-ममता ('मैं' और 'मेरा'-पन)-का आरोप कर लिया। वास्तवमें देखा जाय तो शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माना हुआ है, है नहीं। कारण कि शरीर प्रकाश्य है और स्वयं (स्वरूप) प्रकाशक है। शरीर एकदेशीय है और स्वरूप सर्वदेशीय अथवा देशातीत है।

शरीर जड है और स्वरूप चेतन है। शरीर ज्ञेय है और स्वरूप ज्ञाता है। स्वरूपका वह ज्ञातापन भी शरीरकी दृष्टिसे ही है। अगर शरीरकी दृष्टि हटा दी जाय, तो स्वरूप ज्ञातृत्वरहित चिन्मात्र है अर्थात् केवल चित्तरूपसे रहता है। उस चितिमात्र स्वरूपमें 'मैं' और 'मेरा'-पन नहीं है। उसमें अहंता-ममताका अत्यन्त अभाव है। वह चितिमात्र ब्रह्म-स्वरूप है, और ब्रह्ममें 'मैं' और 'मेरा'-पन कभी हुआ नहीं, है नहीं और हो सकता भी नहीं।

**परिशिष्ट भाव**—चींटीसे लेकर ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार कर्मफल है। संसारका स्वरूप है—वस्तु, व्यक्ति और क्रिया। वस्तुमात्रकी प्राप्ति और अप्राप्ति होती है, व्यक्तिमात्रका संयोग और वियोग होता है तथा क्रियामात्रका आरम्भ और अन्त होता है। जो वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके आश्रयका त्याग करके प्राप्त कर्तव्यका पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी तथा योगी है। जो कर्मफलका त्याग न करके केवल अग्निका त्याग करता है, वह सच्चा संन्यासी नहीं है और जो केवल क्रियाओंका त्याग करता है, वह सच्चा योगी नहीं है। कारण कि मनुष्य कर्मफलसे बँधता है, अग्निसे अथवा क्रियाओंसे नहीं।

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने दो निष्ठाएँ बतायी थीं—सांख्यनिष्ठा (सांख्ययोग) और योगनिष्ठा (कर्मयोग)। फिर पाँचवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्ने सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंको एक फलवाला बताया। अब यहाँ भगवान् उसी भावको लेकर कहते हैं कि जिसने कर्मफलका त्याग कर दिया है, वही सच्चा सांख्ययोगी और कर्मयोगी है। तात्पर्य है कि चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता। योगी तभी होता है, जब वह कर्मफलका त्याग कर देता है। कारण कि जबतक कर्मफलकी चाहना है, तबतक वृत्तिनिरोध करनेसे सिद्धियोंकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर कल्याण नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह कहा गया कि जो संन्यासी है, वही योगी है। पर इनका एकत्व किसमें है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

**यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।**

**न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥**

पाण्डव	= हे अर्जुन!	तम्	= उसीको (तुम)	किये बिना
यम्	= (लोग)	योगम्	= योग	(मनुष्य)
	जिसको	विद्धि	= समझो;	कश्चन
संन्यासम्	= संन्यास—	हि	= क्योंकि	= कोई-सा (भी)
इति	= ऐसा	असन्न्यस्त-		योगी
प्राहुः	= कहते हैं,	सङ्कल्पः	= संकल्पोंका त्याग	न
				= नहीं
				भवति
				= हो सकता ।

**व्याख्या**—'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव'—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने बताया था कि संन्यास (सांख्ययोग) और योग (कर्मयोग)—ये दोनों ही स्वतन्त्रतासे कल्याण करनेवाले हैं (पाँचवें अध्यायका दूसरा श्लोक), तथा दोनोंका फल भी एक ही है (पाँचवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) अर्थात् संन्यास और

योग दो नहीं हैं, एक ही हैं। वही बात भगवान् यहाँ कहते हैं कि जैसे संन्यासी सर्वथा त्यागी होता है, ऐसे ही कर्मयोगी भी सर्वथा त्यागी होता है।

अठारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके जो नियत कर्तव्य-कर्म केवल कर्तव्यमात्र समझकर किया जाता है,

वह 'सात्त्विक त्याग' है, जिससे पदार्थों और क्रियाओंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और मनुष्य त्यागी अर्थात् योगी हो जाता है। इसी तरह संन्यासी भी कर्तृत्वाभिमानका त्यागी होता है। अतः दोनों ही त्यागी हैं। तात्पर्य है कि योगी और संन्यासीमें कोई भेद नहीं है। भेद न रहनेसे ही भगवान्ने पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है कि राग-द्वेषका त्याग करनेवाला योगी 'संन्यासी' ही है।

'न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन'—मनमें जो स्फुरणाएँ होती हैं अर्थात् तरह-तरहकी बातें याद आती हैं, उनमेंसे जिस स्फुरणा-(बात-) के साथ मन चिपक जाता है, जिस स्फुरणाके प्रति प्रियता-अप्रियता पैदा हो जाती है, वह 'संकल्प' हो जाता है। उस संकल्पका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। कारण कि परमात्माके साथ सम्बन्धका नाम 'योग' है और जिसकी भीतरसे ही पदार्थोंमें महत्त्व, सुन्दर तथा सुख-बुद्धि है, वह (भीतरसे पदार्थोंके साथ सम्बन्ध माननेसे) भोगी ही होगा, योगी हो ही नहीं सकता। वह योगी तो तब होता है, जब उसकी असत् पदार्थोंमें महत्त्व, सुन्दर तथा सुख-बुद्धि नहीं रहती और तभी वह सम्पूर्ण संकल्पोंका

त्यागी होता है तथा उसको भगवान्के साथ अपने नित्य सम्बन्धका अनुभव होता है।

यहाँ 'कश्चन' पदसे यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि संकल्पका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी अर्थात् कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, हठयोगी, लययोगी आदि नहीं होता। कारण कि उसका सम्बन्ध उत्पन्न और नष्ट होनेवाले जड पदार्थोंके साथ है; अतः वह योगी कैसे होगा? वह तो भोगी ही होगा। ऐसे भोगी केवल मनुष्य ही नहीं हैं, प्रत्युत पशु-पक्षी आदि भी भोगी हैं; क्योंकि उन्होंने भी संकल्पोंका त्याग नहीं किया है।

तात्पर्य यह निकला कि जबतक असत् पदार्थोंके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहेगा अर्थात् अपने-आपको कुछ-न-कुछ मानेगा, तबतक मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता अर्थात् असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रखते हुए वह कितना ही अभ्यास कर ले, समाधि लगा ले, गिरि-कन्दराओंमें चला जाय, तो भी गीताके सिद्धान्तके अनुसार वह योगी नहीं कहा जा सकता।

ऐसे तो संन्यास और योगकी साधना अलग-अलग है, पर संकल्पोंके त्यागमें दोनों साधन एक हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिस योगकी प्रशंसा की गयी है, उस योगकी प्राप्तिका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

## आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगम्	= जो योग (समता) में	योगीके लिये	योगारूढस्य	= योगारूढ मनुष्यका
आरुरुक्षोः	= आरूढ़ होना चाहता है, (ऐसे)	कर्म	शमः	= शम (शान्ति)
मुनेः	= मननशील	कारणम्	कारणम्	= (परमात्मप्राप्तिमें) कारण
		उच्यते	उच्यते	= कहा गया है।
		तस्य, एव		= उसी

व्याख्या—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'—जो योग-(समता-) में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये (योगारूढ़ होनेमें) निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना कारण है। तात्पर्य है कि करनेका वेग मिटानेमें प्राप्त कर्तव्य-कर्म करना कारण है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति जन्मा है, पला है और जीवित है तो उसका जीवन दूसरोंकी सहायताके बिना चल ही नहीं सकता। उसके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहमूतक कोई ऐसी चीज नहीं है, जो प्रकृतिकी न हो। इसलिये जबतक

वह इन प्राकृत चीजोंको संसारकी सेवामें नहीं लगाता, तबतक वह योगारूढ़ नहीं हो सकता अर्थात् समतामें स्थित नहीं हो सकता; क्योंकि प्राकृत वस्तुमात्रकी संसारके साथ एकता है, अपने साथ एकता है ही नहीं।

प्राकृत पदार्थोंमें जो अपनापन दीखता है, उसका तात्पर्य है कि उनको दूसरोंकी सेवामें लगानेका दायित्व हमारेपर है। अतः उन सबको दूसरोंकी सेवामें लगानेका भाव होनेसे सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जायगा और वह स्वयं योगारूढ़ हो जायगा। यही बात भगवान्ने दूसरी

जगह अन्वय-व्यतिरेक रीतिसे कही है कि यज्ञके लिये अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवालोंके सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं अर्थात् किञ्चिन्मात्र भी बन्धनकारक नहीं होते (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक) और यज्ञसे अन्यत्र अर्थात् अपने लिये किये गये कर्म बन्धनकारक होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ श्लोक)।

योगारूढ़ होनेमें कर्म कारण क्यों हैं? क्योंकि फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हमारी समता है या नहीं, उसका हमारेपर क्या असर पड़ता है—इसका पता तभी लगेगा, जब हम कर्म करेंगे। समताकी पहचान कर्म करनेसे ही होगी। तात्पर्य है कि कर्म करते हुए यदि हमारेमें समता रही, राग-द्वेष नहीं हुए, तब तो ठीक है; क्योंकि वह कर्म 'योग'में कारण हो गया। परन्तु यदि हमारेमें समता नहीं रही, राग-द्वेष हो गये; तो हमारा जडताके साथ सम्बन्ध होनेसे वह कर्म 'योग'में कारण नहीं बना।

**'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'**— असत्के

**परिशिष्ट भाव**—योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले साधकके लिये योगारूढ़ होनेमें निष्कामभावसे कर्म करना कारण है और उससे प्राप्त होनेवाली शान्ति परमात्मप्राप्तिमें कारण है। तात्पर्य है कि परमात्मप्राप्तिमें कर्म कारण नहीं हैं, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति कारण है। यह शान्ति साधन है, सिद्धि नहीं।

विवेकपूर्वक कर्म करनेसे ही कर्मोंका राग (वेग) मिटता है, क्योंकि राग मिटानेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत विवेकमें है। जिसकी योगारूढ़ होनेकी लालसा है, वह सब कर्म विवेकपूर्वक ही करता है। विवेक तब विकसित होता है, जब साधक कामनाकी पूर्तिमें परतन्त्रताका और अपूर्तिमें अभावका अनुभव करता है। परतन्त्रता और अभावको कोई नहीं चाहता, जबकि कामना करनेसे ये दोनों ही नहीं छूटते।

योगारूढ़ अवस्थामें राजी नहीं होना है, क्योंकि राजी होनेसे साधक वहीं अटक जायगा, जिससे परमात्मप्राप्ति होनेमें बहुत समय लग जायगा (गीता—चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक)। जैसे, पहले बालककी खेलमें रुचि रहती है। परन्तु बड़े होनेपर जब उसकी रुचि रुपयोंमें हो जाती है, तब खेलकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। ऐसे ही जबतक परमात्मप्राप्तिका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक उस शान्तिमें रुचि रहती है अर्थात् शान्ति बहुत बढ़िया मालूम देती है। परन्तु उस शान्तिका उपभोग न किया जाय, उससे उपराम हो जायँ तो उसकी रुचि अपने-आप मिट जाती है और बहुत जल्दी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जाता है।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना कारण है अर्थात् निःस्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करते-करते जब सबका वियोग हो जाता है, तब साधक योगारूढ़ हो जाता है। कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है और योग नित्य रहता है।

कर्मी (भोगी) भी कर्म करता है और कर्मयोगी भी कर्म करता है, पर उन दोनोंके उद्देश्यमें बड़ा भारी अन्तर रहता है। एक आसक्ति रखनेके लिये अथवा कामनापूर्तिके लिये कर्म करता है और एक आसक्तिका त्याग करनेके लिये कर्म करता है। भोगी अपने लिये कर्म करता है और कर्मयोगी दूसरोंके लिये कर्म करता है। अतः आसक्तिपूर्वक कर्म करनेमें समान होनेपर भी जो आसक्ति-त्यागके उद्देश्यसे दूसरोंके लिये कर्म करता है, वह योगी (योगारूढ़) हो जाता है। कर्म करनेसे ही योगीकी पहचान होती है, अन्यथा **'वृद्धा नारी पतिव्रता'**!

यहाँ जिसको 'शम' (शान्ति) कहा गया है, उसीको दूसरे अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें 'प्रसाद' (अन्तःकरणकी प्रसन्नता) कहा गया है। इस शान्तिमें रमण न करनेसे 'निर्वाणपरमा शान्ति' की प्राप्ति होती है (गीता—छठे अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। त्यागसे शान्ति मिलती है (गीता—बारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। शान्तिमें रमण न करनेसे अखण्डरस (तत्त्वज्ञान) मिलता है और अखण्डरसमें भी सन्तोष न करनेसे अनन्तरस (परमप्रेम) मिलता है।

साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अशान्ति पैदा होती है। इसका कारण यह है कि असत् पदार्थों-(शरीरादि-) के साथ स्वयंका सम्बन्ध एक क्षण भी रह नहीं सकता और रहता भी नहीं; क्योंकि स्वयं सदा रहनेवाला है और शरीरादि मात्र पदार्थ प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। उन प्रतिक्षण अभावमें जानेवालोंके साथ यह स्वयं अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और उनके साथ अपना सम्बन्ध रखना चाहता है। परन्तु उनके साथ सम्बन्ध रहता नहीं तो उनके चले जानेके भयसे और उनके चले जानेसे अशान्ति पैदा हो जाती है। जब यह शरीरादि असत् पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाकर उनसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब असत्के त्यागसे उसको स्वतः एक शान्ति मिलती है। अगर साधक उस शान्तिमें भी सुख लेने लग जायगा तो वह बँध जायगा। अगर उस शान्तिमें राग नहीं करेगा, उससे सुख नहीं लेगा, तो वह शान्ति परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण हो जाती है।

सम्बन्ध—योगारूढ कौन होता है—इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।  
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥**

हि	= कारण कि	न	= न	सर्वसङ्कल्प-	
यदा	= जिस समय	कर्मसु	= कर्मोंमें (ही)	सन्न्यासी	= सम्पूर्ण संकल्पोंका
न	= न	अनुषज्जते	= आसक्त होता है,		त्यागी मनुष्य
इन्द्रियार्थेषु	= इन्द्रियोंके भोगोंमें (तथा)	तदा	= उस समय (वह)	योगारूढः	= योगारूढ
				उच्यते	= कहा जाता है।

व्याख्या—‘यदा हि नेन्द्रियार्थेषु ( अनुषज्जते )’—साधक इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंमें; अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति, घटना, व्यक्ति आदिमें और शरीरके आराम, मान, बड़ाई आदिमें आसक्ति न करे, इनका भोगबुद्धिसे भोग न करे, इनमें राजी न हो, प्रत्युत यह अनुभव करे कि ये सब विषय, पदार्थ आदि आये हैं और प्रतिक्षण चले जा रहे हैं। ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, फिर इनमें क्या राजी हों—ऐसा अनुभव करके इनसे निर्लेप रहे।

इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त न होनेका साधन है—इच्छापूर्तिका सुख न लेना। जैसे, कोई मनचाही बात हो जाय; मनचाही वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि मिल जाय और जिसको नहीं चाहता, वह न हो तो मनुष्य उसमें राजी (प्रसन्न) हो जाता है तथा उससे सुख लेता है। सुख लेनेपर इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति बढ़ती है। अतः साधकको चाहिये कि अनुकूल वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मिलनेकी इच्छा न करे और बिना इच्छाके अनुकूल वस्तु आदि मिल भी जाय तो उसमें राजी न हो। ऐसा होनेसे इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति नहीं होगी।

दूसरी बात, मनुष्यके पास अनुकूल चीजें न होनेसे यह उन चीजोंके अभावका अनुभव करता है और उनके मिलनेपर यह उनके अधीन हो जाता है। जिस समय इसको अभावका अनुभव होता था, उस समय भी परतन्त्रता थी और अब उन चीजोंके मिलनेपर भी ‘कहीं इनका वियोग न हो जाय’—इस तरहकी परतन्त्रता होती है। अतः वस्तुके न मिलने और मिलनेमें फर्क इतना ही रहा कि वस्तुके न

मिलनेसे तो वस्तुकी परतन्त्रताका अनुभव होता था, पर वस्तुके मिलनेपर परतन्त्रताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत उसमें मनुष्यको स्वतन्त्रता दीखती है—यह उसको धोखा होता है। जैसे कोई किसीके साथ विश्वासघात करता है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थितिमें राजी होनेसे मनुष्य अपने साथ विश्वासघात करता है। कारण कि यह मनुष्य अनुकूल परिस्थितिके अधीन हो जाता है, उसको भोगते-भोगते इसका स्वभाव बिगड़ जाता है और बार-बार सुख भोगनेकी कामना होने लगती है। यह सुखभोगकी कामना ही इसके जन्म-मरणका कारण बन जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि अनुकूलताकी इच्छा करना, आशा करना और अनुकूल विषय आदिमें राजी होना—यह सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है। इससे कोई-सा भी अनर्थ, पाप बाकी नहीं रहता। अगर इसका त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य योगारूढ हो जाता है।

तीसरी बात, हमारे पास निर्वाहमात्रके सिवाय जितनी अनुकूल भोग्य वस्तुएँ हैं, वे अपनी नहीं हैं। वे किसकी हैं, इसका हमें पता नहीं है; परन्तु जब कोई अभावग्रस्त प्राणी मिल जाय, तो उस सामग्रीको उसीकी समझकर उसके अर्पण कर देनी चाहिये [यह आपकी ही है—ऐसा उससे कहना नहीं है], और उसे देकर ऐसा मानना चाहिये कि निर्वाहसे अतिरिक्त जो वस्तुएँ मेरे पास पड़ी थीं, उस ऋणसे मैं मुक्त हो गया हूँ। तात्पर्य है कि निर्वाहसे अतिरिक्त वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न माननेसे मनुष्यकी भोगोंमें आसक्ति नहीं होती।

‘न कर्मस्वनुषज्जते’\*—जैसे इन्द्रियोंके अर्थोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, ऐसे ही कर्मोंमें भी आसक्ति नहीं

\* यहाँ ‘कर्मसु’ पद बहुवचन है, जिसका तात्पर्य है कि आसक्त पुरुषमें अनेक कर्मोंकी और उनके फलोंकी इच्छा रहती है। परन्तु अठारहवें अध्यायके पैंतालीसवें श्लोकमें ‘कर्मणि’ पद एकवचन है, जिसका तात्पर्य है कि आसक्तिरहित पुरुषके द्वारा कर्म तो अनेक होते हैं, पर उसमें कर्तव्यबुद्धि एक ही रहती है।

होनी चाहिये अर्थात् क्रियमाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और उन कर्मोंकी तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। कारण कि कर्म करनेमें भी एक राग होता है। कर्म ठीक तरहसे हो जाता है तो उससे एक सुख मिलता है और कर्म ठीक तरहसे नहीं होता तो मनमें एक दुःख होता है। यह सुख-दुःखका होना कर्मकी आसक्ति है। अतः साधक कर्म तो विधिपूर्वक और तत्परतासे करे, पर उसमें आसक्त न होकर सावधानीपूर्वक निर्लिप्त रहे कि ये तो आने-जानेवाले हैं और हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं; अतः इनके होने-न-होनेमें, आने-जानेमें हमारेमें क्या फर्क पड़ता है?

कर्मोंमें आसक्ति होनेकी पहचान क्या है? अगर क्रियमाण (वर्तमानमें किये जानेवाले) कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और उनसे मिलनेवाले तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें मनुष्य निर्विकार नहीं रहता, प्रत्युत उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार होते हैं, तो समझना चाहिये कि उसकी कर्मोंमें और उनके तात्कालिक फलमें आसक्ति रह गयी है।

इन्द्रियोंके अर्थोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होनेका तात्पर्य यह हुआ कि स्वयं (स्वरूप) चिन्मय परमात्माका अंश होनेसे नित्य अपरिवर्तनशील है और पदार्थ तथा क्रियाएँ प्रकृतिका कार्य होनेसे नित्य-निरन्तर बदलते रहते हैं। परन्तु जब स्वयं उन परिवर्तनशील पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्त हो जाता है, तब यह उनके अधीन हो जाता है और बार-बार जन्म-मरणरूप महान् दुःखोंका अनुभव करता रहता है। उन पदार्थों और क्रियाओंसे अर्थात् प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये भगवान्ने दो विभाग बताये हैं कि न तो इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् पदार्थोंमें आसक्ति करे और न कर्मोंमें (क्रियाओंमें) आसक्ति करे। ऐसा करनेपर मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है।

यहाँ एक बात समझनेकी है कि क्रियाओंमें प्रियता प्रायः फलको लेकर ही होती है और फल होता है— इन्द्रियोंके भोग। अतः इन्द्रियोंके भोगोंकी आसक्ति सर्वथा मिट जाय तो क्रियाओंकी आसक्ति भी मिट जाती है। फिर भी भगवान्ने क्रियाओंकी आसक्ति मिटानेकी बात अलग क्यों कही? इसका कारण यह है कि क्रियाओंमें भी एक स्वतन्त्र आसक्ति होती है। फलेच्छा न होनेपर भी मनुष्यमें एक करनेका वेग होता है। यह वेग ही क्रियाओंकी आसक्ति है, जिसके कारण मनुष्यसे बिना कुछ किये रहा

नहीं जाता, वह कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता है। यह आसक्ति मिटती है केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे अथवा भगवान्के लिये कर्म करनेसे। इसलिये भगवान्ने बारहवें अध्यायमें पहले अभ्यासयोग बताया। परन्तु भीतरमें करनेका वेग होनेसे अभ्यासमें मन नहीं लगता; अतः करनेका वेग मिटानेके लिये दसवें श्लोकमें बताया कि साधक मेरे लिये ही कर्म करे (बारहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि पारमार्थिक अभ्यास आदि करनेमें जिसका मन नहीं लगता और भीतरमें कर्म करनेका वेग (आसक्ति) पड़ा है, तो वह भक्तियोगका साधक केवल भगवान्के लिये ही कर्म करे। इससे उसकी आसक्ति मिट जायगी। ऐसे ही कर्मयोगका साधक केवल संसारके हितके लिये ही कर्म करे, तो उसका करनेका वेग (आसक्ति) मिट जायगा।

जैसे कर्म करनेकी आसक्ति होती है, ऐसे ही कर्म न करनेकी भी आसक्ति होती है। कर्म न करनेकी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये; क्योंकि कर्म न करनेकी आसक्ति आलस्य और प्रमाद पैदा करती है, जो कि तामसी वृत्ति है और कर्म करनेकी आसक्ति व्यर्थ चेष्टाओंमें लगाती है, जो कि राजसी वृत्ति है।

वह योगारूढ़ कितने दिनोंमें, कितने महीनोंमें अथवा कितने वर्षोंमें होगा? इसके लिये भगवान् 'यदा' और 'तदा' पद देकर बताते हैं कि जिस कालमें मनुष्य इन्द्रियोंके अर्थोंमें और क्रियाओंमें सर्वथा आसक्तिरहित हो जाता है, तभी वह योगारूढ़ हो जाता है। जैसे, किसीने यह निश्चय कर लिया कि 'मैं आजसे कभी इच्छापूर्तिका सुख नहीं लूँगा।' अगर वह अपने इस निश्चय (प्रतिज्ञा) पर दृढ़ रहे, तो वह आज ही योगारूढ़ हो जायगा। इस बातको बतानेके लिये ही भगवान्ने 'यदा' और 'तदा' पदोंके साथ 'हि' पद दिया है।

पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति करने और न करनेमें भगवान्ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दी है कि तुम साक्षात् मेरे अंश हो और ये पदार्थ और क्रियाएँ प्रकृतिजन्य हैं। इनमें पदार्थ भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा क्रियाओंका भी आरम्भ और अन्त हो जाता है। अतः ये नित्य रहनेवाले नहीं हैं और तुम नित्य रहनेवाले हो। तुम नित्य होकर भी अनित्यमें फँस जाते हो, अनित्यमें आसक्ति, प्रियता कर लेते हो। इससे तुम्हारे हाथ कुछ नहीं लगता, केवल दुःख-ही-दुःख पाते रहते हो। अतः तुम आजसे ही यह विचार कर लो कि 'हमलोग पदार्थों और क्रियाओंमें



सुख नहीं लेंगे' तो तुमलोग आज ही योगारूढ़ हो जाओगे; क्योंकि योग अर्थात् समता तुम्हारे घरकी चीज है। समता तुम्हारा स्वरूप है और स्वरूप सत् है। सत्का कभी अभाव नहीं होता और असत्का कभी भाव नहीं होता। ऐसे सत्-स्वरूप तुम असत् पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति मत करो तो तुम्हें स्वतःसिद्ध योगारूढ़ अवस्थाका अनुभव हो जायगा।

**'सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी'**—हमारे मनमें जितनी स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओंमेंसे जिस स्फुरणामें सुख होता है और उसको लेकर यह विचार होता है कि 'हमें ऐसा मिल जाय; हम इतने सुखी हो जायँगे', तो इस तरह स्फुरणामें लिप्तता होनेसे उस स्फुरणाका नाम 'संकल्प' हो जाता है। वह संकल्प ही अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारण सुखदायी और दुःखदायी होता है। जैसे सुखदायी संकल्प लिप्तता (राग-द्वेष) करता है, ऐसे ही दुःखदायी संकल्प भी लिप्तता करता है। अतः दोनों ही संकल्प बन्धनमें डालनेवाले हैं। उनसे हानिके सिवाय कुछ लाभ नहीं है; क्योंकि संकल्प न तो अपने स्वरूपका बोध होने देता है, न दूसरोंकी सेवा करने देता है, न भगवान्में प्रेम होने देता है, न भगवान्में मन लगने देता है, न अपने नजदीकके कुटुम्बियोंके अनुकूल ही बनने देता है। तात्पर्य है कि अपना संकल्प रखनेसे न अपना हित होता है, न संसारका हित होता है, न कुटुम्बियोंकी कोई सेवा होती है, न भगवान्की प्राप्ति होती है और न अपने स्वरूपका बोध ही होता है। इससे केवल हानि-ही-हानि होती है। ऐसा समझकर साधकको सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित हो जाना चाहिये, जो कि वास्तवमें है ही।

मनमें होनेवाली स्फुरणा यदि संकल्पका रूप धारण न करे, तो वह स्फुरणा स्वतः नष्ट हो जाती है। स्फुरणा होनेमात्रसे मनुष्यकी उतनी हानि नहीं होती और पतन भी नहीं होता; परन्तु समय तो नष्ट होता ही है; अतः वह स्फुरणा भी त्याज्य है। पर संकल्पोंका त्याग तो साधकको जरूर ही करना चाहिये। कारण कि संकल्पोंका त्याग किये बिना अर्थात् अपने मनकी छोड़े बिना साधक योगारूढ़ नहीं होता और योगारूढ़ हुए बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, कृतकृत्यता नहीं होती, मनुष्यजन्म सार्थक नहीं होता, भगवान्में प्रेम नहीं होता, दुःखोंका सर्वथा अन्त नहीं होता।

दूसरे श्लोकमें तो भगवान्ने व्यतिरेक-रीतिसे कहा है कि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी

नहीं होता और यहाँ अन्वय-रीतिसे कहते हैं कि संकल्पोंका त्याग करनेसे मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह निकला कि साधकको किसी प्रकारका संकल्प नहीं रखना चाहिये।

**संकल्पोंके त्यागके उपाय**—(१) भगवान्ने हमारे लिये अपनी तरफसे अन्तिम जन्म (मनुष्यजन्म) दिया है कि तुम इससे अपना उद्धार कर लो। अतः हमें मनुष्य-जन्मके अमूल्य, मुक्तिदायक समयको निरर्थक संकल्पोंमें बरबाद नहीं करना है—ऐसा विचार करके संकल्पोंको हटा दे।

(२) कर्मयोगके साधकको अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका सम्बन्ध वर्तमानसे है, भूत-भविष्यत् कालसे नहीं। परन्तु संकल्प-विकल्प भूत और भविष्यत् कालके होते हैं; वर्तमानके नहीं। अतः साधकको अपने कर्तव्यका त्याग करके भूत-भविष्यत् कालके संकल्प-विकल्पोंमें नहीं फँसना चाहिये, प्रत्युत आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेमें लगे रहना चाहिये (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

(३) ज्ञानयोगके साधकको इस बातपर दृढ़ रहना चाहिये कि वास्तवमें सत्ता एक परमात्मतत्त्वकी ही है। संकल्पोंकी, संसारकी सत्ता ही नहीं है। इसलिये कोई संकल्प आये तो वह उससे उदासीन रहे; उसमें न राग करे, न द्वेष।

(४) भक्तियोगके साधकको विचार करना चाहिये कि मनमें जितने भी संकल्प आते हैं, वे प्रायः भूतकालके आते हैं, जो कि अभी नहीं है अथवा भविष्यत् कालके आते हैं, जो कि आगे होनेवाला है अर्थात् जो अभी नहीं है। अतः जो अभी नहीं है, उसके चिन्तनमें समय बरबाद करना और जो भगवान् अभी हैं, अपनेमें हैं और अपने हैं, उनका चिन्तन न करना—यह कितनी बड़ी गलती है! ऐसा विचार करके संकल्पोंको हटा दे।

**'योगारूढस्तदोच्यते'**—सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'योग' है (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक)। इस योग अर्थात् समतापर आरूढ़ होना, स्थित होना ही योगारूढ़ होना है। योगारूढ़ होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

दूसरे श्लोकमें भगवान्ने यह कहा था कि संकल्पोंका त्याग किये बिना कोई-सा भी योग सिद्ध नहीं होता और यहाँ कहा है कि संकल्पोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे वह योगारूढ़ हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सभी

तरहके योगोंसे योगारूढ़ अवस्था प्राप्त होती है। यद्यपि त्याग करनेसे योगारूढ़ अवस्थामें सब एक हो जाते हैं यहाँ कर्मयोगका ही प्रकरण है, पर संकल्पोंका सर्वथा (गीता—पाँचवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

**परिशिष्ट भाव**—योगारूढ़की पहचान क्या है? इसके लिये यहाँ तीन बातें बतायी हैं—पदार्थों (वस्तुओं तथा व्यक्तियों) में आसक्ति न होना, क्रियाओंमें आसक्ति न होना और सम्पूर्ण संकल्पोंका अर्थात् मनचाहीका त्याग होना। तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके भोगोंमें और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तथा भीतरसे यह आग्रह भी न हो कि ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये। जिसकी न तो पदार्थोंमें आसक्ति है और न पदार्थोंके अभावमें आसक्ति है; न क्रियाओंमें आसक्ति है और न क्रियाओंके अभावमें आसक्ति है तथा न कोई संकल्प है, वह 'योगारूढ़' है। तात्पर्य है कि पदार्थ मिले या न मिले, व्यक्ति मिले या न मिले, क्रिया हो या न हो—इसका कोई आग्रह नहीं होना चाहिये (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

साधकको विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे? ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतः सिद्ध है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका संयोग तो अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और कोई अभाव शेष नहीं रहता।

इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न होनेका अर्थ है—कामनारहित और कर्तृत्वरहित होना। इन्द्रियोंके भोगोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति न हो तो साधक कामनारहित हो जाता है और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तो कर्तृत्वरहित हो जाता है। कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेपर स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जाती है। वास्तवमें स्थिति होती नहीं, प्रत्युत स्थिति है; परन्तु कामनारहित और कर्तृत्वरहित न होनेसे इसका अनुभव नहीं होता। कामना और कर्तृत्वका अभाव होनेपर स्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है।

जैसे लिखनेके समय लेखनीको काममें लेते हैं और लिखना पूरा होते ही लेखनीको ज्यों-का-त्यों रख देते हैं, ऐसे ही साधक कार्य करते समय शरीरको काममें ले और कार्य पूरा होते ही उसको ज्यों-का-त्यों रख दे अर्थात् उससे असंग हो जाय तो प्रत्येक क्रियाके बाद उसकी योग (समता) में स्थिति होगी। अगर क्रियासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो वह योगारूढ़ हो जायगा।

क्रिया (भोग) और पदार्थ (ऐश्वर्य) की आसक्तिसे पतन होता है (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। इसलिये न तो क्रियामें आसक्ति हो और न फलमें ही आसक्ति हो (गीता—दूसरे अध्यायका सैंतालीसवाँ और पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। संकल्पजन्य सुखका भोग भी न हो अर्थात् संकल्पपूर्तिका सुख भी न ले। अपनी मुक्तिका भी संकल्प न हो; क्योंकि मुक्तिके संकल्पसे बन्धनकी सत्ता दृढ़ होती है। अतः कोई भी संकल्प न रखकर उदासीन रहे।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने योगारूढ़ मनुष्यके लक्षण बताते हुए 'यदा' और 'तदा' पदसे योगारूढ़ होनेमें अर्थात् अपना उद्धार करनेमें मनुष्यको स्वतन्त्र बताया। अब आगेके श्लोकमें भगवान् मनुष्यमात्रको अपना उद्धार करनेकी प्रेरणा करते हैं।

**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।  
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥**

आत्मना	= अपने द्वारा	हि	= क्योंकि	(और)	
आत्मानम्	= अपना	आत्मा	= आप	आत्मा	= आप
उद्धरेत्	= उद्धार करे,	एव	= ही	एव	= ही
आत्मानम्	= अपना	आत्मनः	= अपना	आत्मनः	= अपना
न, अवसादयेत्	= पतन न करे;	बन्धुः	= मित्र है	रिपुः	= शत्रु है।

व्याख्या—‘उद्धरेदात्मनात्मानम्’— अपने-आपसे अपना उद्धार करे—इसका तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिसे अपने-आपको ऊँचा उठाये। अपने स्वरूपसे जो एकदेशीय ‘मैं’-पन दीखता है, उससे भी अपनेको ऊँचा उठाये। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ आदि और ‘मैं’-पन—ये सभी प्रकृतिके कार्य हैं; अपना स्वरूप नहीं है। जो अपना स्वरूप नहीं है, उससे अपनेको ऊँचा उठाये।

अपना स्वरूप परमात्माके साथ एक है और शरीर, इन्द्रियाँ आदि तथा ‘मैं’-पन प्रकृतिके साथ एक है। अगर यह अपना उद्धार करनेमें, अपनेको ऊँचा उठानेमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी सहायता मानेगा, इनका सहारा लेगा तो फिर जडताका त्याग कैसे होगा? क्योंकि जड वस्तुओंसे सम्बन्ध मानना, उनकी आवश्यकता समझना, उनका सहारा लेना ही खास बन्धन है। जो अपने हैं, अपनेमें हैं, अभी हैं और यहाँ हैं, ऐसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि असत्के द्वारा सत्की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्के त्यागसे सत्की प्राप्ति होती है।

दूसरा भाव, अभी पूर्वश्लोकमें आया है कि प्राकृत पदार्थ, क्रिया और संकल्पमें आसक्त न हो, उनमें फँसे नहीं, प्रत्युत उनसे अपने-आपको ऊपर उठाये। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पदार्थ, क्रिया और संकल्पका आरम्भ तथा अन्त होता है, उनका संयोग तथा वियोग होता है, पर अपने (स्वयंके) अभावका और परिवर्तनका अनुभव किसीको नहीं होता। स्वयं सदा एकरूप रहता है। अतः उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ आदिमें न फँसना, उनके अधीन न होना, उनसे निर्लिप्त रहना ही अपना उद्धार करना है।

मनुष्यमात्रमें एक ऐसी विचारशक्ति है, जिसको काममें लानेसे वह अपना उद्धार कर सकता है। ‘ज्ञानयोग’का साधक उस विचारशक्तिसे जड-चेतनका अलगाव करके चेतन (अपने स्वरूप) में स्थित हो जाता है और जड (शरीर-संसार) से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। ‘भक्तियोग’का साधक उसी विचारशक्तिसे ‘मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं’ इस प्रकार भगवान्से आत्मीयता करके अपना उद्धार कर लेता है। ‘कर्मयोग’का साधक उसी विचारशक्तिसे मिले हुए शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि पदार्थोंको संसारका ही मानते हुए संसारकी सेवामें लगाकर

उन पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। इस दृष्टिसे मनुष्य अपनी विचारशक्तिको काममें लेकर किसी भी योग-मार्गसे अपना कल्याण कर सकता है।

### उद्धार-सम्बन्धी विशेष बात

विचार करना चाहिये कि ‘मैं’ शरीर नहीं हूँ; क्योंकि शरीर बदलता रहता है और मैं वही रहता हूँ। यह शरीर ‘मेरा’ भी नहीं है; क्योंकि शरीरपर मेरा वश नहीं चलता अर्थात् शरीरको मैं जैसा रखना चाहूँ, वह वैसा नहीं रह सकता; जितने दिन रखना चाहूँ, उतने दिन नहीं रह सकता और जैसा सबल बनाना चाहूँ, वैसा बन नहीं सकता। यह शरीर ‘मेरे लिये’ भी नहीं है; क्योंकि यदि यह मेरे लिये होता तो इसके मिलनेपर मेरी कोई इच्छा बाकी नहीं रहती। दूसरी बात, यह परिवर्तनशील है और मैं अपरिवर्तनशील हूँ। परिवर्तनशील अपरिवर्तनशीलके काम कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता। तीसरी बात, यदि यह मेरे लिये होता तो सदा मेरे पास रहता। परन्तु यह मेरे पास नहीं रहता। इस प्रकार शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं—इस वास्तविकतापर मनुष्य दृढ़ रहे, तो अपने-आपसे अपना उद्धार हो जायगा।

अब शंका होती है कि ईश्वर, सन्त-महात्मा, गुरु, शास्त्र—इनसे भी तो मनुष्योंका उद्धार होता है; फिर अपने-आपसे अपना उद्धार करे—ऐसा क्यों कहा? इसका समाधान है कि ईश्वर, सन्त-महात्मा आदि हमारा उद्धार तभी करेंगे, जब उनमें हमारी श्रद्धा होगी। वह श्रद्धा हमें खुद ही करनी पड़ेगी। खुद श्रद्धा किये बिना क्या वे अपनेमें श्रद्धा करा लेंगे? नहीं करा सकते। अगर ईश्वर, सन्त आदि हमारे श्रद्धा किये बिना ही अपनेमें हमारी श्रद्धा कराकर हमारा उद्धार करते तो हमारा उद्धार कभीका हो गया होता। कारण कि आज दिनतक भगवान्के अनेक अवतार हो चुके हैं, कई तरहके सन्त-महात्मा, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी हो चुके हैं; परन्तु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है। इससे भी सिद्ध होता है कि हमने स्वयं उनमें श्रद्धा नहीं की, हम स्वयं उनके सम्मुख नहीं हुए, हमने स्वयं उनकी बात नहीं मानी, इसलिये हमारा उद्धार नहीं हुआ। परन्तु जिन्होंने उनपर श्रद्धा की, जो उनके सम्मुख हो गये, जिन्होंने उनकी बात मानी, उनका उद्धार हो गया। अतः साधकको शास्त्र, भगवान्, गुरु आदिमें श्रद्धा-विश्वास करके तथा उनकी

आज्ञाके अनुसार चलकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये।

भगवान्, सन्त-महात्मा आदिके रहते हुए हमारा उद्धार नहीं हुआ है तो इसमें उद्धारकी सामग्रीकी कमी नहीं रही है अथवा हम अपना उद्धार करनेमें असमर्थ नहीं हुए हैं। हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार नहीं हुए, इसीसे वे सब मिलकर भी हमारा उद्धार करनेमें समर्थ नहीं हुए। अगर हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार हो जायँ, सम्मुख हो जायँ तो मनुष्यजन्म-जैसी सामग्री और कलियुग-जैसा मौका प्राप्त करके हम कई बार अपना उद्धार कर सकते हैं! पर यह तब होगा, जब हम स्वयं अपना उद्धार करना चाहेंगे।

दूसरी बात, स्वयं ही अपना पतन किया है अर्थात् इसने ही संसारके सम्बन्धको पकड़ा है, संसारने इसको नहीं पकड़ा है। जैसे, बाल्यावस्थाको इसने छोड़ा नहीं, प्रत्युत वह स्वाभाविक ही छूट गयी। फिर इसने जवानीके सम्बन्धको पकड़ लिया कि 'मैं जवान हूँ', पर इसका जवानीके साथ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। तात्पर्य यह हुआ कि अगर यह नया सम्बन्ध नहीं जोड़े तो पुराना सम्बन्ध स्वाभाविक ही छूट जायगा, जो कि स्वतः छूट ही रहा है। पुराना सम्बन्ध तो रहता नहीं और नया सम्बन्ध यह जोड़ लेता है—इससे सिद्ध होता है कि सम्बन्ध जोड़ने और छोड़नेमें यह स्वतन्त्र और समर्थ है। अगर यह नया सम्बन्ध न जोड़े, तो अपना उद्धार आप ही कर सकता है।

शरीर-संसारके साथ जो संयोग (सम्बन्ध) है, उसका प्रतिक्षण स्वतः वियोग हो रहा है। उस स्वतः होते हुए वियोगको संयोग-अवस्थामें ही स्वीकार कर ले तो यह अपने-आपसे अपना उद्धार कर सकता है।

'**नात्मानमवसादयेत्**'—यह अपने-आपको पतनकी तरफ न ले जाय—इसका तात्पर्य है कि परिवर्तनशील प्राकृत पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े अर्थात् उनको महत्त्व देकर उनका दास न बने, अपनेको उनके अधीन न माने, अपने लिये उनकी आवश्यकता न समझे। जैसे किसीको धन मिला, पद मिला, अधिकार मिला, तो उनके मिलनेसे यह अपनेको बड़ा, श्रेष्ठ और स्वतन्त्र मानता है, पर विचार करके देखें कि यह स्वयं बड़ा हुआ

कि धन, पद, अधिकार बड़े हुए? स्वयं चेतन और एकरूप रहते हुए भी इन प्राकृत चीजोंके पराधीन हो जाता है और अपना पतन कर लेता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस पतनमें भी यह अपना उत्थान मानता है और उनके अधीन होकर भी अपनेको स्वाधीन मानता है!

'**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः**—यह आप ही अपना बन्धु है। अपने सिवाय और कोई बन्धु है ही नहीं। अतः स्वयंको किसीकी जरूरत नहीं है, इसको अपने उद्धारके लिये किसी योग्यताकी जरूरत नहीं है, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिकी जरूरत नहीं है और किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी भी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि प्राकृत पदार्थ इसके साधक (सहायक) अथवा बाधक नहीं है। यह स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है, इसलिये यह स्वयं ही अपना बन्धु (मित्र) है।

हमारे जो सहायक हैं, रक्षक हैं, उद्धारक हैं, उनमें भी जब हम श्रद्धा-भक्ति करेंगे, उनकी बात मानेंगे, तभी वे हमारे बन्धु होंगे, सहायक आदि होंगे। अतः मूलमें हम ही हमारे बन्धु हैं; क्योंकि हमारे माने बिना, हमारे श्रद्धा-विश्वास किये बिना वे हमारा उद्धार नहीं कर सकते—यह नियम है।

'**आत्मैव रिपुरात्मनः**—यह आप ही अपना शत्रु है अर्थात् जो अपने द्वारा अपने-आपका उद्धार नहीं करता, वह अपने-आपका शत्रु है। अपने सिवाय इसका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी इसका अपकार करनेमें समर्थ नहीं हैं। ये शरीर, इन्द्रियाँ आदि जैसे इसका अपकार नहीं कर सकते, ऐसे ही इसका उपकार भी नहीं कर सकते। जब स्वयं उन शरीरादिको अपना मान लेता है, तो यह स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है। तात्पर्य है कि उन प्राकृत पदार्थोंसे अपनेपनकी स्वीकृति ही अपने साथ अपनी शत्रुता है।

श्लोकके उत्तरार्धमें दो बार '**एव**' पद देनेका तात्पर्य है कि अपना मित्र और शत्रु आप ही है, दूसरा कोई मित्र और शत्रु ही नहीं सकता और होना सम्भव भी नहीं है। प्रकृतिके कार्यके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न माननेसे यह आप ही अपना मित्र है और प्रकृतिके कार्यके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध माननेसे यह आप ही अपना शत्रु है।

**परिशिष्ट भाव**—अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य स्वयं ही कारण होता है, दूसरा कोई नहीं। भगवान्ने मनुष्य-शरीर दिया है तो अपने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। इसलिये अपने कल्याणके लिये दूसरेकी जरूरत नहीं है। पतन भी दूसरा नहीं करता। जीव खुद ही गुणोंका संग करके जन्म-मरणमें पड़ता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

गुरु, सन्त और भगवान् भी तभी उद्धार करते हैं, जब मनुष्य स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनको स्वीकार करता है, उनके सम्मुख होता है, उनके शरण होता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। अगर मनुष्य उनको स्वीकार न करे तो वे कैसे उद्धार करेंगे? नहीं कर सकते। खुद शिष्य न बने तो गुरु क्या करेगा? जैसे, दूसरा व्यक्ति भोजन तो दे देगा, पर भूख खुदकी चाहिये। खुदकी भूख न हो तो दूसरेके द्वारा दिया गया भोजन किस कामका? ऐसे ही खुदकी लगन न हो तो गुरुका, सन्त-महात्माओंका उपदेश किस कामका?

गुरु, सन्त और भगवान्का कभी अभाव नहीं होता। अनेक बड़े-बड़े सन्त होते आये हैं, गुरु होते आये हैं, भगवान्के अवतार होते आये हैं, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है तो इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उनको स्वीकार नहीं किया। अतः अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हैं। जो अपने उद्धार और पतनमें दूसरेको हेतु मानता है, उसका उद्धार कभी हो ही नहीं सकता।

वास्तविक दृष्टिसे देखें तो भगवान् भी विद्यमान हैं, गुरु भी विद्यमान हैं, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और अपनेमें योग्यता, सामर्थ्य भी विद्यमान है। केवल नाशवान् सुखकी आसक्तिसे ही उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है। नाशवान् सुखकी आसक्ति मिटानेकी जिम्मेवारी साधकपर है; क्योंकि उसीने आसक्ति की है।

गुरु बनना या बनाना गीताका सिद्धान्त नहीं है। मनुष्य आप ही अपना गुरु है। इसलिये उपदेश अपनेको ही देना है। जब सब कुछ परमात्मा ही हैं (वासुदेवः सर्वम्), तो फिर दूसरा गुरु कैसे बने और कौन किसको उपदेश दे? अतः 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' का तात्पर्य है कि दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे, अपनेको ही उपदेश दे। आप ही अपना गुरु बने, आप ही अपना नेता बने और आप ही अपना शासक बने।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि यह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है। अतः स्वयं अपना मित्र और शत्रु कैसे है—इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं अर्थात् पूर्वश्लोकके उत्तरार्धकी व्याख्या आगेके श्लोकमें करते हैं।

**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।**

**अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥**

येन	= जिसने	एव	= ही	है, ऐसे अनात्माका	
आत्मना	= अपने-आपसे	आत्मनः	= अपना	आत्मा	= आत्मा
आत्मा	= अपने-आपको	बन्धुः	= बन्धु है	एव	= ही
जितः	= जीत लिया है,	तु	= और	शत्रुत्वे	= शत्रुतामें
तस्य	= उसके लिये	अनात्मनः	= जिसने अपने-	शत्रुवत्	= शत्रुकी तरह
आत्मा	= आप		आपको नहीं जीता	वर्तेत	= बर्ताव करता है।

व्याख्या—'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः'— अपनेमें अपने सिवाय दूसरेकी सत्ता है ही नहीं। अतः जिसने अपनेमें अपने सिवाय दूसरे-(शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि-) की किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रखी है अर्थात् असत् पदार्थोंके आश्रयका सर्वथा त्याग करके जो अपने सम स्वरूपमें स्थित हो गया है, उसने अपने-आपको जीत लिया है।

वह अपने-आपमें स्थित हो गया—इसकी क्या पहचान है? उसका अन्तःकरण समतामें स्थित हो जायगा; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। उस ब्रह्मकी निर्दोषता और समता उसके अन्तःकरणपर आ जाती है। इससे पता

लग जाता है कि वह ब्रह्ममें स्थित है (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह निकला कि ब्रह्ममें स्थित होनेसे ही उसने अपने द्वारा अपने-आपपर विजय प्राप्त कर ली है। वास्तवमें ब्रह्ममें स्थिति तो नित्य-निरन्तर थी ही, केवल मन, बुद्धि आदिको अपना माननेसे ही उस स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा था।

संसारमें दूसरोंकी सहायताके बिना कोई भी किसीपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और दूसरोंकी सहायता लेना ही स्वयंको पराजित करना है। इस दृष्टिसे स्वयं पहले पराजित होकर ही दूसरोंपर विजय प्राप्त करता है। जैसे, कोई अस्त्र-शस्त्रोंसे दूसरेको पराजित करता है, तो वह दूसरोंको पराजित

करनेमें अपने लिये अस्त्र-शस्त्रोंकी आवश्यकता मानता है; अतः स्वयं अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित ही हुआ। कोई शास्त्रके द्वारा, बुद्धिके द्वारा शास्त्रार्थ करके दूसरोंपर विजय प्राप्त करता है, तो वह स्वयं पहले शास्त्र और बुद्धिसे पराजित होता ही है और होना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह निकला कि जो किसी भी साधनसे जिस किसीपर भी विजय करता है, वह अपने-आपको ही पराजित करता है। स्वयं पराजित हुए बिना दूसरोंपर कभी कोई विजय कर ही नहीं सकता—यह नियम है। अतः जो अपने लिये दूसरोंकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं समझता, वही अपने-आपसे अपने-आपपर विजय प्राप्त करता है और वही स्वयं अपना बन्धु है।

‘अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्’—जो अपने सिवाय दूसरोंकी अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, वैभव, राज्य, जमीन, घर, पद, अधिकार आदिकी अपने लिये आवश्यकता मानता है, वही ‘अनात्मा’ है। तात्पर्य है कि जो अपना स्वरूप नहीं है, आत्मा नहीं है, उसको अपने लिये आवश्यक और सहायक समझता है तथा उसको अपना स्वरूप मान लेता है। ऐसा अनात्मा होकर जो किसी भी प्राकृत पदार्थको अपना समझता है, वह आप ही अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करता है। यद्यपि वह यही समझता है कि मन, बुद्धि आदिको अपना मानकर मैंने उनपर अपना आधिपत्य कर लिया है, उनपर विजय प्राप्त कर ली है, तथापि वास्तवमें (उनको अपना माननेसे) वह खुद ही पराजित हुआ है। तात्पर्य यह निकला कि दूसरोंसे पराजित होकर अपनी विजय समझना ही अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करना है।

‘शत्रुत्वे’ कहनेमें भाव यह है कि जो अपना नहीं है, उससे ‘मैं’ और ‘मेरा’-पनका सम्बन्ध मानना अपने साथ शत्रुपनेमें मुख्य हेतु है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं

प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है—यहींसे शत्रुता शुरू हो जाती है। मनुष्य प्राकृत वस्तुओंपर जितना-जितना अधिकार जमाता चला जाता है, उतना-उतना वह अपने-आपको पराधीन बनाता चला जाता है। उसमें भी वह मान, बड़ाई, कीर्ति आदि चाहता है और अधिक-से-अधिक पतनकी तरफ जाता है। उसको दीखता तो यही है कि मैं अच्छा कर रहा हूँ, मेरी उन्नति हो रही है, पर बात बिलकुल उलटी है। वास्तवमें वह अपने साथ अपनी शत्रुताको ही बढ़ा रहा है।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो मानवशरीर जडताका सर्वथा त्याग करके केवल चिन्मयताकी प्राप्तिके लिये मिला है, उसको भूलकर वह वर्तमानमें तथा मरनेके बाद भी मूर्ति, चित्र आदिके रूपमें अपना नाम-रूप कायम रहे—इस तरह जडताको महत्त्व देकर उसको स्थिर रखना चाहता है। इस तरह चिन्मय होकर भी जडताकी दासतामें फँसकर वह अपने साथ महान् शत्रुताका ही बर्ताव करता है।

‘शत्रुवत्’ कहनेमें भाव यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको अपनी समझकर वह अपनेको उनका अधिपति मानता है; परन्तु वास्तवमें हो जाता है उनका दास! यद्यपि उसका बर्ताव अपनी दृष्टिसे अपना अहित करनेका नहीं होता, तथापि परिणाममें तो उसका अपना अहित ही होता है। इसलिये भगवान्ने कहा कि उसका बर्ताव अपने साथ शत्रुवत् अर्थात् शत्रुताकी तरह होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि कोई भी मनुष्य अपनी दृष्टिसे अपने साथ शत्रुताका बर्ताव नहीं करता। परन्तु असत् वस्तुका आश्रय लेकर मनुष्य अपने हितकी दृष्टिसे भी जो कुछ बर्ताव करता है, वह बर्ताव वास्तवमें अपने साथ शत्रुकी तरह ही होता है; क्योंकि असत् वस्तुका आश्रय परिणाममें जन्म-मृत्युरूप महान् दुःख देनेवाला है।

**परिशिष्ट भाव**—शरीरमें मैं-मेरापन न रहे तो आप ही अपना मित्र है और शरीरको मैं-मेरा माने तो आप ही अपने शत्रुकी तरह है अर्थात् अनात्माको सत्ता देनेसे उसका परिणाम शत्रुकी तरह ही होगा।

‘शत्रुवत्’—जो नुकसान शत्रु करता है, वही नुकसान वह खुद अपना करता है। वास्तवमें भोगी मनुष्य अपना जितना नुकसान करता है, उतना शत्रु भी नहीं कर सकता। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शत्रुके द्वारा हमारा भला ही होता है। वह हमारा बुरा कर ही नहीं सकता। कारण कि वह वस्तुओंतक ही पहुँचता है, स्वयंतक पहुँचता ही नहीं। अतः नाशवान्के नाशके सिवाय और वह कर ही क्या सकता है? नाशवान्के नाशसे हमारा भला ही होगा। वास्तवमें हमारा नुकसान हमारा भाव बिगड़नेसे ही होता है।

सम्बन्ध—अपने द्वारा अपनी विजय करनेका परिणाम क्या होता है? इसका उत्तर आगेके तीन श्लोकोंमें देते हैं।

## जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

जितात्मनः	=जिसने अपने- आपपर विजय कर ली है, उस	दुःखेषु	= शीत-उष्ण ( अनुकूलता- प्रतिकूलता), सुख-दुःख	मानापमानयोः	= मान-अपमानमें
शीतोष्णसुख-		तथा	= तथा	प्रशान्तस्य	= निर्विकार मनुष्यको
				परमात्मा	= परमात्मा
				समाहितः	= नित्यप्राप्त हैं ।

व्याख्या—[छठे श्लोकमें 'अनात्मनः' पद और यहाँ 'जितात्मनः' पद आया है। इसका तात्पर्य है कि जो 'अनात्मा' होता है, वह शरीरादि प्राकृत पदार्थोंके साथ 'मैं' और 'मेरा'—पन करके अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करता है और जो 'जितात्मा' होता है, वह शरीरादि प्राकृत पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध न मानकर अपने साथ मित्रताका बर्ताव करता है। इस तरह अनात्मा मनुष्य अपना पतन करता है और जितात्मा मनुष्य अपना उद्धार करता है।]

'जितात्मनः'—जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी भी प्राकृत पदार्थकी अपने लिये सहायता नहीं मानता और उन प्राकृत पदार्थोंके साथ किंचिन्मात्र भी अपनेपनका सम्बन्ध नहीं जोड़ता, उसका नाम 'जितात्मा' है। जितात्मा मनुष्य अपना तो हित करता ही है, उसके द्वारा दुनियाका भी बड़ा भारी हित होता है।

'शीतोष्णसुखदुःखेषु प्रशान्तस्य'—यहाँ 'शीत' और 'उष्ण'—इन दोनों पदोंपर गहरा विचार करें तो ये सरदी और गरमीके वाचक सिद्ध नहीं होते; क्योंकि सरदी और गरमी—ये दोनों केवल त्वगिन्द्रियके विषय हैं। अगर जितात्मा पुरुष केवल एक त्वगिन्द्रियके विषयमें ही शान्त रहेगा तो श्रवण, नेत्र, रसना और घ्राण—इन इन्द्रियोंके विषय बाकी रह जायँगे, अर्थात् इनमें उसका प्रशान्त रहना बाकी रह जायगा तो उसमें पूर्णता नहीं आयेगी। अतः यहाँ 'शीत' और 'उष्ण' पद अनुकूलता और प्रतिकूलताके वाचक हैं।

शीत अर्थात् अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर भीतरमें एक तरहकी शीतलता मालूम देती है और उष्ण अर्थात् प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर भीतरमें एक तरहका सन्ताप मालूम देता है। तात्पर्य है कि भीतरमें न शीतलता हो और न सन्ताप हो, प्रत्युत एक समान शान्ति बनी रहे अर्थात् इन्द्रियोंके अनुकूल-प्रतिकूल विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होनेपर भीतरकी शान्ति भंग न हो। कारण कि भीतरमें जो स्वतःसिद्ध शान्ति है, वह अनुकूलतामें

राजी होनेसे और प्रतिकूलतामें नाराज होनेसे भंग हो जाती है। अतः शीत-उष्णमें प्रशान्त रहनेका अर्थ हुआ कि बाहरसे होनेवाले संयोग-वियोगका भीतर असर न पड़े।

अब यह विचार करना चाहिये कि 'सुख' और 'दुःख' पदसे क्या अर्थ लें। सुख और दुःख दो-दो तरहके होते हैं—

(१) साधारण लौकिक दृष्टिसे जिसके पास धन-सम्पत्ति-वैभव, स्त्री-पुत्र आदि अनुकूल सामग्रीकी बहुलता हो, उसको लोग 'सुखी' कहते हैं। जिसके पास धनसम्पत्ति-वैभव, स्त्री-पुत्र आदि अनुकूल सामग्रीका अभाव हो, उसको लोग 'दुःखी' कहते हैं।

(२) जिसके पास बाहरकी सुखदायी सामग्री नहीं है, वह भोजन कहाँ करेगा—इसका पता नहीं है, पासमें पहननेके लिये पूरे कपड़े नहीं हैं, रहनेके लिये स्थान नहीं है, साथमें कोई सेवा करनेवाला नहीं है—ऐसी अवस्था होनेपर भी जिसके मनमें दुःख-सन्ताप नहीं होता और जो किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी आवश्यकताका अनुभव भी नहीं करता, प्रत्युत हर हालतमें बड़ा प्रसन्न रहता है, वह 'सुखी' कहलाता है। परन्तु जिसके पास बाहरकी सुखदायी सामग्री पूरी है, भोजनके लिये बढ़िया-से-बढ़िया पदार्थ हैं, पहननेके लिये बढ़िया-से-बढ़िया कपड़े हैं, रहनेके लिये बहुत बढ़िया मकान है, सेवाके लिये कई नौकर हैं—ऐसी अवस्था होनेपर भी भीतरमें रात-दिन चिन्ता रहती है कि मेरी यह सामग्री कहीं नष्ट न हो जाय! यह सामग्री कायम कैसे रहे, बढ़े कैसे? आदि। इस तरह बाहरकी सामग्री रहनेपर भी जो भीतरसे दुःखी रहता है, वह 'दुःखी' कहलाता है।

उपर्युक्त दो प्रकारसे सुख-दुःख कहनेका तात्पर्य है—बाहरकी सामग्रीको लेकर सुखी-दुःखी होना और भीतरकी प्रसन्नता-खिन्नताको लेकर सुखी-दुःखी होना। गीतामें जहाँ सुख-दुःखमें 'सम' होनेकी बात आयी है, वहाँ बाहरकी

सामग्रीमें सम रहनेके लिये कहा गया है; जैसे—  
'समदुःखसुखः' (१२।१३; १४।२४), 'शीतोष्ण-  
सुखदुःखेषु समः' (१२।१८) आदि। जहाँ सुख-दुःखसे  
'रहित' होनेकी बात आयी है, वहाँ भीतरकी प्रसन्नता और  
खिन्नतासे रहित होनेके लिये कहा गया है; जैसे—  
'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' (१५।५) आदि। जहाँ  
सुख-दुःखमें सम होनेकी बात है, वहाँ सुख-दुःखकी सत्ता  
तो है, पर उसका असर नहीं पड़ता और जहाँ सुख-दुःखसे  
रहित होनेकी बात है, वहाँ सुख-दुःखकी सत्ता ही नहीं  
है। इस तरह चाहे बाहरकी सुखदायी-दुःखदायी सामग्री  
प्राप्त होनेपर भीतरसे सम होना कहें, चाहे भीतरसे सुख-  
दुःखसे रहित होना कहें—दोनोंका तात्पर्य एक ही है;  
क्योंकि सम भी भीतरसे है और रहित भी भीतरसे है।

यहाँ शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें प्रशान्त (सम)  
रहनेकी बात कही गयी है। अनुकूलतासे सुख होता है—  
'अनुकूलवेदनीयं सुखम्' और प्रतिकूलतासे दुःख होता  
है—'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।' इसलिये अगर शीत-  
उष्णका अर्थ अनुकूलता-प्रतिकूलता लिया जाय तो सुख-  
दुःख कहना व्यर्थ हो जायगा और सुख-दुःख कहनेसे  
शीत-उष्ण कहना व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि सुख-दुःख पद  
शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता) के ही वाचक हैं।  
फिर यहाँ शीत-उष्ण और सुख-दुःख पदोंकी सार्थकता  
कैसे सिद्ध होगी? इसके लिये 'शीत-उष्ण' पदसे प्रारब्धके  
अनुसार आनेवाली अनुकूलता-प्रतिकूलताको लिया जाय  
और 'सुख-दुःख' पदसे वर्तमानमें किये जानेवाले क्रियमाण  
कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्ति तथा उनके तात्कालिक फलकी  
सिद्धि-असिद्धिको लिया जाय तो इन पदोंकी सार्थकता  
सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि चाहे प्रारब्धकी  
अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति हो, चाहे क्रियमाणकी  
तात्कालिक सिद्धि-असिद्धि हो—इन दोनोंमें ही प्रशान्त  
(निर्विकार) रहे।

इस प्रकरणके अनुसार भी उपर्युक्त अर्थ ठीक दीखता  
है। कारण कि इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें आये  
'नेन्द्रियार्थेषु (अनुषज्जते)' पदको यहाँ 'शीत-उष्ण'  
पदसे कहा गया है और 'न कर्मसु अनुषज्जते' पदोंको  
यहाँ सुख-दुःख पदसे कहा गया है अर्थात् वहाँ प्रारब्धके  
अनुसार आयी हुई अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें और  
क्रियमाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्ति तथा तात्कालिक फलकी  
सिद्धि-असिद्धिमें आसक्तिरहित होनेकी बात आयी है और  
यहाँ उन दोनोंमें प्रशान्त होनेकी बात आयी है।

'तथा मानापमानयोः'—ऐसे ही जो मान-अपमानमें  
भी प्रशान्त है। अब यहाँ कोई शंका करे कि मान-अपमान  
भी तो प्रारब्धका फल है; अतः यह शीत-उष्ण (अनुकूल-  
प्रतिकूल परिस्थिति) के ही अन्तर्गत आ गया। फिर इसको  
अलगसे क्यों लिया गया? मान-अपमानको अलगसे  
इसलिये लिया गया है कि शीत-उष्ण तो दैवेच्छा-  
(अनिच्छा-) कृत प्रारब्धका फल है, पर मान-अपमान  
परेच्छाकृत प्रारब्धका फल है। यह परेच्छाकृत प्रारब्ध  
मान-बड़ाईमें भी होता है और निन्दा-स्तुति आदिमें भी  
होता है। इसलिये 'मान-अपमान' पदमें निन्दा-स्तुति लेना  
चाहें, तो ले सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोगी  
दूसरोंके द्वारा किये गये मान-अपमानमें भी प्रशान्त रहता  
है अर्थात् उसकी शान्तिमें किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता।

मान-अपमानमें प्रशान्त रहनेका उपाय—साधकका  
कोई मान-आदर करे, तो साधक यह न माने कि यह मेरे  
कर्मोंका, मेरे गुणोंका, मेरी अच्छाईका फल है, प्रत्युत यही  
माने कि यह तो मान-आदर करनेवालेकी सज्जनता है,  
उदारता है। उसकी सज्जनताको अपना गुण मानना  
ईमानदारी नहीं है। अगर कोई अपमान कर दे, तो ऐसा  
माने कि यह मेरे कर्मोंका ही फल है। इसमें अपमान  
करनेवालेका कोई दोष नहीं है, प्रत्युत वह तो दयाका पात्र  
है; क्योंकि उस बेचारेने मेरे पापोंका फल भुगतानेमें निमित्त  
बनकर मेरेको शुद्ध कर दिया है। इस तरह माननेसे साधक  
मान-अपमानमें प्रशान्त, निर्विकार हो जायगा। अगर वह  
मानको अपना गुण और अपमानको दूसरोंका दोष मानेगा,  
तो वह मान-अपमानमें प्रशान्त नहीं हो सकेगा।

'परमात्मा समाहितः'—शीत-उष्ण, सुख-दुःख और  
मान-अपमान—इन छहोंमें प्रशान्त, निर्विकार रहनेसे सिद्ध  
होता है कि उसको परमात्मा प्राप्त हैं। कारण कि भीतरसे  
विलक्षण आनन्द मिले बिना बाहरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता,  
सिद्धि-असिद्धि और मान-अपमानमें वह प्रशान्त नहीं रह  
सकता। वह प्रशान्त रहता है, तो उसको एकरस रहनेवाला  
विलक्षण आनन्द मिल गया है। इसलिये गीताने जगह-जगह  
कहा है कि 'जिन पुरुषोंका मन साम्यावस्थामें स्थित है,  
उन पुरुषोंने इस जीवित-अवस्थामें ही संसारको जीत लिया  
है' (पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); जिस लाभकी  
प्राप्ति होनेपर उससे अधिक लाभका होना मान ही नहीं  
सकता और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी  
विचलित नहीं हो सकता (छठे अध्यायका बाईसवाँ  
श्लोक), आदि-आदि।



**परिशिष्ट भाव**—जिसकी आत्मा मित्रकी तरह है अर्थात् जिसका शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन नहीं है, वह अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख और मान-अपमान प्राप्त होनेपर भी सम, निर्विकार रहता है। ऐसा मनुष्य सिद्ध कर्मयोगी है अर्थात् उसको परमात्माका अनुभव हो चुका है—ऐसा मानना चाहिये। कारण कि अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख और मान-अपमान तो आते-जाते हैं, पर परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

## ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा = जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, कूटस्थः = जो कूटकी तरह निर्विकार है,	विजितेन्द्रियः = जितेन्द्रिय है (और) समलोष्टाश्मकाञ्चनः = मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धि-	इति = ऐसा योगी = योगी युक्तः = युक्त (योगारूढ़) उच्यते = कहा जाता है।	वाला है—
---	---	---	----------

**व्याख्या**—‘ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा’—यहाँ कर्मयोगका प्रकरण है; अतः यहाँ कर्म करनेकी जानकारीका नाम ‘ज्ञान’ है और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम ‘विज्ञान’ है।

स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि—इन तीनोंको अपने लिये करना ‘ज्ञान’ नहीं है। कारण कि क्रिया, चिन्तन, समाधि आदि मात्र कर्मोंका आरम्भ और समाप्ति होती है तथा उन कर्मोंसे मिलनेवाले फलका भी आदि और अन्त होता है। परन्तु स्वयं परमात्माका अंश होनेसे नित्य रहता है। अतः अनित्य कर्म और फलसे इस नित्य रहनेवालेको क्या तृप्ति मिलेगी? जडके द्वारा चेतनको क्या तृप्ति मिलेगी? ऐसा ठीक अनुभव हो जाय कि कर्मोंके द्वारा मेरेको कुछ भी नहीं मिल सकता, तो यह कर्मोंको करनेका ‘ज्ञान’ है। ऐसा ज्ञान होनेपर वह कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहेगा—यह ‘विज्ञान’ है। इस ज्ञान और विज्ञानसे वह स्वयं तृप्त हो जाता है। फिर उसके लिये करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता।

**‘कूटस्थः’\***—कूट (अहरन) एक लौह-पिण्ड होता है, जिसपर लोहा, सोना, चाँदी आदि अनेक रूपोंमें गढ़े जाते हैं, पर वह एकरूप ही रहता है। ऐसे ही सिद्ध महापुरुषके सामने तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आती हैं, पर वह कूटकी तरह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है।

**‘विजितेन्द्रियः’**—कर्मयोगके साधकको इन्द्रियोंपर विशेष ध्यान देना पड़ता है; क्योंकि कर्म करनेमें प्रवृत्ति होनेके कारण उसके कहीं-न-कहीं राग-द्वेष होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। इसलिये गीताने कहा है—‘**सर्वकर्म-फलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्**’ (१२। ११) अर्थात् कर्मफलके त्यागमें जितेन्द्रियता मुख्य है। इस तरह साधन-अवस्थामें इन्द्रियोंपर विशेष खयाल रखनेवाला साधक सिद्ध-अवस्थामें स्वतः ‘विजितेन्द्रिय’ होता है।

**‘समलोष्टाश्मकाञ्चनः’**—‘लोष्ट’ नाम मिट्टीके ढेलेका, ‘अश्म’ नाम पत्थरका और ‘काञ्चन’ नाम स्वर्णका है—इन सबमें सिद्ध कर्मयोगी सम रहता है। सम रहनेका अर्थ यह नहीं है कि उसको मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णका ज्ञान नहीं होता। उसको यह ढेला है, यह पत्थर है, यह स्वर्ण है—ऐसा ज्ञान अच्छी तरहसे होता है और उसका व्यवहार भी उनके अनुरूप जैसा होना चाहिये, वैसा ही होता है अर्थात् वह स्वर्णको तिजोरीमें सुरक्षित रखता है और ढेले तथा पत्थरको बाहर ही पड़े रहने देता है। ऐसा होनेपर भी स्वर्ण चला जाय, धन चला जाय तो उसके मनपर कोई असर नहीं पड़ता और स्वर्ण मिल जाय, तो भी उसके मनपर कोई असर नहीं पड़ता अर्थात् उनके आने-जानेसे, बनने-बिगड़नेसे उसको हर्ष-शोक नहीं होते—यही उसका सम रहना है। उसके लिये जैसे पत्थर है, वैसे ही सोना है; जैसे सोना है, वैसे ही ढेला है और जैसे ढेला है वैसे ही सोना है।

\* जो कूट- (अहरन- ) की तरह स्थित रहता है, उसको ‘कूटस्थ’ कहते हैं—‘कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः।’

अतः इनमेंसे कोई चला गया तो क्या? कोई बिगड़ गया तो क्या? इन बातोंको लेकर उसके अन्तःकरणमें कोई विकार पैदा नहीं होता। इन स्वर्ण आदि प्राकृत पदार्थोंका मूल्य तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखते हुए ही प्रतीत होता है और तभीतक उनके बढ़िया-घटियापनेका अन्तःकरणमें असर होता है। पर वास्तविक बोध हो जानेपर जब प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें इन प्राकृत (भौतिक) पदार्थोंका कुछ भी मूल्य नहीं रहता अर्थात् बढ़िया-घटिया सब पदार्थोंमें उसका समभाव हो जाता है।

सार यह निकला कि उसकी दृष्टि पदार्थोंके उत्पन्न और नष्ट होनेवाले स्वभावपर रहती है अर्थात् उसकी दृष्टिमें इन प्राकृत पदार्थोंके उत्पन्न और नष्ट होनेमें कोई

फर्क नहीं है। सोना उत्पन्न और नष्ट होता है, पत्थर उत्पन्न और नष्ट होता है तथा ढेला भी उत्पन्न और नष्ट होता है। उनकी इस अनित्यतापर दृष्टि रहनेसे उसको सोना, पत्थर और ढेलेमें तत्त्वसे कोई फर्क नहीं दीखता। इन तीनोंके नाम इसलिये लिये हैं कि इनके साथ व्यवहार तो यथायोग्य ही होना चाहिये और यथायोग्य करना ही उचित है तथा वह यथायोग्य व्यवहार करता भी है, पर उसकी दृष्टि उनके विनाशीपनेपर ही रहती है। उनमें जो परमात्मतत्त्व एक समान परिपूर्ण है, उस परमात्मतत्त्वकी स्वतःसिद्ध समता उसमें रहती है।

‘युक्त इत्युच्यते योगी’—ऐसा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त, निर्विकार, जितेन्द्रिय और समबुद्धिवाला सिद्ध कर्मयोगी युक्त अर्थात् योगारूढ़, समतामें स्थित कहा जाता है।

## सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ १ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ-  
द्वेष्यबन्धुषु = सुहृद्, मित्र, वैरी,  
उदासीन, मध्यस्थ,  
द्वेष्य और  
सम्बन्धियोंमें

च = तथा  
साधुषु = साधु-आचरण  
करनेवालोंमें  
(और)  
पापेषु = पाप-आचरण

करनेवालोंमें  
अपि = भी  
समबुद्धिः = समबुद्धिवाला  
मनुष्य  
विशिष्यते = श्रेष्ठ है।

व्याख्या—[ आठवें श्लोकमें पदार्थोंमें समता बतायी, अब इस श्लोकमें व्यक्तियोंमें समता बताते हैं। व्यक्तियोंमें समता बतानेका तात्पर्य है कि वस्तु तो अपनी तरफसे कोई क्रिया नहीं करती; अतः उसमें समबुद्धि होना सुगम है, परन्तु व्यक्ति तो अपने लिये और दूसरोंके लिये भी क्रिया करता है; अतः उसमें समबुद्धि होना कठिन है। इसलिये व्यक्तियोंके आचरणोंको देखकर भी जिसकी बुद्धिमें, विचारमें कोई विषमता या पक्षपात नहीं होता, ऐसा समबुद्धिवाला पुरुष श्रेष्ठ है। ]

‘सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु’—जो माता-की तरह ही, पर ममतारहित होकर बिना किसी कारणके सबका हित चाहनेके और हित करनेके स्वभाववाला होता है, उसको ‘सुहृद्’ कहते हैं और जो उपकारके बदले उपकार करनेवाला होता है, उसको ‘मित्र’ कहते हैं।

जैसे सुहृद्का बिना कारण दूसरोंका हित करनेका स्वभाव होता है, ऐसे ही जिसका बिना कारण दूसरोंका अहित करनेका स्वभाव होता है, उसको ‘अरि’ कहते हैं।

जो अपने स्वार्थसे अथवा अन्य किसी कारणविशेषको लेकर दूसरोंका अहित, अपकार करता है, वह ‘द्वेष्य’ होता है।

दो आपसमें वाद-विवाद कर रहे हैं, उनको देखकर भी जो तटस्थ रहता है, किसीका किंचिन्मात्र भी पक्षपात नहीं करता और अपनी तरफसे कुछ कहता भी नहीं, वह ‘उदासीन’ कहलाता है। परन्तु उन दोनोंकी लड़ाई मिट जाय और दोनोंका हित हो जाय—ऐसी चेष्टा करनेवाला ‘मध्यस्थ’ कहलाता है।

एक तो बन्धु अर्थात् सम्बन्धी है और दूसरा बन्धु नहीं है, पर दोनोंके साथ बर्ताव करनेमें उसके मनमें कोई विषमभाव नहीं होता। जैसे, उसके पुत्रने अथवा अन्य किसीके पुत्रने कोई बुरा काम किया है, तो वह उनके अपराधके अनुरूप दोनोंको ही समान दण्ड देता है, ऐसे ही उसके पुत्रने अथवा दूसरेके पुत्रने कोई अच्छा काम किया है, तो उनको पुरस्कार देनेमें भी उसका कोई पक्षपात नहीं होता।

‘साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते’—श्रेष्ठ आचरण करनेवालों और पाप-आचरण करनेवालोंके साथ

व्यवहार करनेमें तो अन्तर होता है और अन्तर होना ही चाहिये, पर उन दोनोंकी हितैषितामें अर्थात् उनका हित करनेमें, दुःखके समय उनकी सहायता करनेमें उसके अन्तःकरणमें कोई विषमभाव, पक्षपात नहीं होता। 'सबमें एक परमात्मा हैं, ऐसा स्वयंमें होता है, बुद्धिमें सबकी हितैषिता होती है, मनमें सबका हितचिन्तन होता है, और व्यवहारमें परता-ममता छोड़कर सबके सुखका सम्पादन होता है।

जहाँ विषमबुद्धि अधिक रहनेकी सम्भावना है, वहाँ भी समबुद्धि होना विशेष है। वहाँ समबुद्धि हो जाय, तो फिर सब जगह समबुद्धि हो जाती है।

इस श्लोकमें भाव, गुण, आचरण आदिकी भिन्नताको लेकर नौ प्रकारके प्राणियोंका नाम आया है। इन प्राणियोंके भाव, गुण, आचरण आदिकी भिन्नताको लेकर उनके साथ बर्ताव करनेमें विषमता आ जाय, तो वह दोषी नहीं है। कारण कि वह बर्ताव तो उनके भाव, आचरण, परिस्थिति आदिके अनुसार ही है और उनके लिये ही है, अपने लिये नहीं। परन्तु उन सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण हैं—इस भावमें कोई फर्क नहीं आना चाहिये और अपनी तरफसे सबकी सेवा बन जाय—इस भावमें भी कोई अन्तर नहीं आना चाहिये।

तात्पर्य यह हुआ कि जिस किसी मार्गसे जिसको तत्त्वबोध हो जाता है, उसकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है अर्थात् किसी भी जगह पक्षपात न होकर समान रीतिसे सेवा और हितका भाव हो जाता है। जैसे भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९), ऐसे ही वह सिद्ध कर्मयोगी भी सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—'सुहृदः सर्वदेहिनाम्' (श्रीमद्भा० ३। २५। २१)।

यहाँ सुहृद्, मित्र आदि नाम लेनेके बाद अन्तमें 'साधुष्वपि च पापेषु' कहनेका तात्पर्य है कि जिसकी श्रेष्ठ आचरणवालों और निकृष्ट आचरणवालोंमें समबुद्धि हो जायगी, उसकी सब जगह समबुद्धि हो जायगी। कारण कि संसारमें आचरणोंकी ही मुख्यता है, आचरणोंका ही असर पड़ता है, आचरणोंसे ही मनुष्यकी परीक्षा होती है, आचरणोंसे ही श्रद्धा-अश्रद्धा होती है, स्वाभाविक दृष्टि आचरणोंपर ही पड़ती है और आचरणोंसे ही सद्भाव-दुर्भाव पैदा होते हैं। भगवान्ने भी 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (३। २१) कहकर आचरणकी बात मुख्य बतायी है। इसलिये श्रेष्ठ आचरणवाले और

निकृष्ट आचरणवाले—इन दोनोंमें समता हो जायगी, तो फिर सब जगह समता हो जायगी, इन दोनोंमें भी श्रेष्ठ आचरणवाले पुरुषोंमें तो सद्भाव होना सुगम है, पर पाप-आचरणवाले पुरुषोंमें सद्भाव होना कठिन है। अतः भगवान्ने यहाँ 'अपि च' दो अव्ययोंका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी' जिसकी समबुद्धि है, वह श्रेष्ठ है।

यहाँ दीखनेवालोंको लेकर देखनेवालेकी स्थितिका वर्णन किया गया है; अतः 'समबुद्धिर्विशिष्यते' कहा है। देखनेवालेमें जो समबुद्धि होती है, वह हरेकको दीखती नहीं, पर साधकके लिये तो वही मुख्य है; क्योंकि साधक 'मैं अपनी दृष्टिसे कैसा हूँ', ऐसे अपने-आपको देखता है। इसलिये अपने-आपसे अपना उद्धार करनेके लिये कहा गया है (छठे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

संसारमें प्रायः दूसरोंके आचरणोंपर ही दृष्टि रहती है। साधकको विचार करना चाहिये कि मेरी दृष्टि अपने भावोंपर रहती है या दूसरेके आचरणोंपर? दूसरोंके आचरणोंपर दृष्टि रहनेसे जिस दृष्टिसे अपना कल्याण होता है, वह दृष्टि बंद हो जाती है और अँधेरा हो जाता है। इसलिये दूसरोंके श्रेष्ठ और निकृष्ट आचरणोंपर दृष्टि न रहकर उनका जो वास्तविक स्वरूप है, उसपर दृष्टि रहनी चाहिये। स्वरूपपर दृष्टि रहनेसे उनके आचरणोंपर दृष्टि नहीं रहेगी; क्योंकि स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, जब कि आचरण बदलते रहते हैं। सत्य-तत्त्वपर रहनेवाली दृष्टि भी सत्य होती है। परन्तु जिसकी दृष्टि केवल आचरणोंपर ही रहती है, उसकी दृष्टि असत्पर रहनेसे असत् ही होती है। इसमें भी अशुद्ध आचरणोंपर जिसकी ज्यादा दृष्टि है, उसका तो पतन ही समझना चाहिये। तात्पर्य है कि जो आचरण आदरणीय नहीं है, ऐसे अशुद्ध आचरणोंको जो मुख्यता देता है, वह तो अपना पतन ही करता है। अतः भगवान्ने यहाँ अशुद्ध आचरण करनेवाले पापीमें भी समबुद्धिवालेको श्रेष्ठ बताया है। कारण कि उसकी दृष्टि सत्य-तत्त्वपर रहनेसे उसकी दृष्टिमें सब कुछ परमात्मतत्त्व ही रहता है। फिर आगे चलकर 'सब कुछ' नहीं रहता, केवल परमात्मतत्त्व ही रहता है। उसीकी यहाँ 'समबुद्धिर्विशिष्यते' पदसे महिमा गायी गयी है।

### विशेष बात

गीताका योग 'समता' ही है—'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८)। गीताकी दृष्टिसे अगर समता आ गयी तो दूसरे

किसी लक्षणकी जरूरत नहीं है अर्थात् जिसको वास्तविक समताकी प्राप्ति हो गयी है, उसमें सभी सद्गुण-सदाचार स्वतः आ जायेंगे और उसकी संसारपर विजय हो जायगी (पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। विष्णुपुराणमें प्रह्लादजीने भी कहा है कि समता भगवान्की आराधना (भजन) है— 'समत्वमाराधनमच्युतस्य' (१।१७।१०)। इस तरह जिस समताकी असीम, अपार, अनन्त महिमा है, जिसका वर्णन कभी कोई कर ही नहीं सकता, उस समताकी प्राप्तिका उपाय है— बुराईरहित होना। बुराईरहित होनेका उपाय है—(१) किसीको बुरा न मानें (२) किसीका बुरा न करें, (३) किसीका बुरा न सोचें, (४) किसीमें बुराई न देखें, (५) किसीकी बुराई न सुनें, (६) किसीकी बुराई न कहें। इन छः बातोंका दृढ़तासे पालन करें, तो हम बुराईरहित हो जायेंगे। बुराईरहित होते ही हमारेमें स्वतः-स्वाभाविक अच्छाई आ जायगी; क्योंकि अच्छाई हमारा स्वरूप है।

अच्छाईको लानेके लिये हम प्रयत्न करते हैं, साधन करते हैं; परन्तु वर्षोंतक साधन करनेपर भी वास्तविक अच्छाई हमारेमें नहीं आती और साधन करनेपर खुदको भी सन्तोष नहीं होता, प्रत्युत यही विचार होता है कि इतना साधन करनेपर भी सद्गुण-सदाचार नहीं आये। अतः ये

सद्गुण-सदाचार आनेके हैं नहीं—ऐसा समझकर हम साधनसे हताश हो जाते हैं। हताश होनेमें मुख्य कारण यही है कि हमने अच्छाईको उद्योगसाध्य माना है और बुराईको सर्वथा नहीं छोड़ा है। बुराईका सर्वथा त्याग किये बिना आंशिक अच्छाई बुराईको बल देती रहती है। कारण कि आंशिक अच्छाईसे अच्छाईका अभिमान होता है और जितनी बुराई है, वह सब-की-सब अच्छाईके अभिमानपर ही अवलम्बित है। पूर्ण अच्छाई होनेपर अच्छाईका अभिमान नहीं होता और बुराई भी उत्पन्न नहीं होती। अतः बुराईका त्याग करनेपर अच्छाई बिना उद्योग किये और बिना चाहे स्वतः आ जाती है। जब अच्छाई हमारेमें आ जाती है, तब हम अच्छे हो जाते हैं। जब हम अच्छे हो जाते हैं, तब हमारे द्वारा स्वाभाविक ही अच्छाई होने लगती है। जब अच्छाई होने लग जाती है, तब सृष्टिके द्वारा स्वाभाविक ही हमारा जीवन-निर्वाह होने लगता है अर्थात् जीवन-निर्वाहके लिये हमें परिश्रम नहीं करना पड़ता और दूसरोंका आश्रय भी नहीं लेना पड़ता। ऐसी अवस्थामें हम संसारके आश्रयसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। संसारके आश्रयसे सर्वथा मुक्त होते ही हमें स्वतःसिद्ध समता प्राप्त हो जाती है और हम कृतकृत्य हो जाते हैं, जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

**परिशिष्ट भाव**—समताका विभाग अलग है और विषमताका विभाग अलग है। परमात्मतत्त्व सम है और संसार विषम है। सिद्ध कर्मयोगीकी विषम व्यवहारमें भी समबुद्धि रहती है। बर्ताव करनेमें जिनसे कभी एकता नहीं हो सकती, एकता करनी भी नहीं चाहिये और एकता कर भी नहीं सकते, उन मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें और सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, साधु तथा पापी व्यक्तियोंमें भी उसकी समबुद्धि रहती है। कारण कि उसको 'एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव हो गया है।

एक सोनेसे बनी हुई विष्णुभगवान्की मूर्ति हो और एक सोनेसे बनी हुई कुत्तेकी मूर्ति हो तो तौलमें बराबर होनेके कारण दोनोंका मूल्य समान होगा। विष्णुभगवान् सर्वश्रेष्ठ एवं परमपूज्य हैं और कुत्ता नीच (अस्पृश्य) एवं अपूज्य है—इस तरह बाहरी रूपको देखें तो दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है, पर सोनेको देखें तो दोनोंमें कोई फर्क नहीं! इसी तरह संसारमें कोई मित्र है, कोई शत्रु है; कोई महात्मा है, कोई दुरात्मा है; कोई अच्छा है, कोई मन्दा है; कोई सज्जन है, कोई दुष्ट है; कोई सदाचारी है, कोई दुराचारी है; कोई धर्मात्मा है, कोई पापी है; कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है—यह सब तो बाहरी दृष्टिसे है, पर तत्त्वसे देखें तो सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। एक भगवान् ही अनन्त रूपोंमें प्रकट हुए हैं। जानकार मनुष्य उनको पहचान लेता है, दूसरा नहीं पहचान सकता।

स्नान करते समय शरीरमें साबुन लगाकर दर्पणमें देखे तो शरीर बहुत बुरा, भद्दा दीखेगा। कहीं फफोले दीखेंगे, कहीं लकीरें दीखेंगी। परन्तु ऐसा दीखनेपर भी मनमें दुःख नहीं होगा कि कैसी बीमारी हो गयी! कारण कि भीतर यह भाव रहता है कि यह तो ऊपरसे ऐसा दीखता है, जल डालते ही साफ हो जायगा। ऐसे ही सब परमात्माके स्वरूप हैं, पर ऊपरसे शरीरोंमें उनका अलग-अलग स्वभाव दीखता है। वास्तवमें ऊपरसे दीखनेवाले भी परमात्माके ही स्वरूप हैं, पर अपने राग-द्वेषके कारण वे अलग-अलग दीखते हैं।

जो बात पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'कर्मयोगो विशिष्यते' पदोंसे कही थी, वही बात यहाँ 'समबुद्धि-

‘विशिष्यते’ पदोंसे कही है। समबुद्धिवाला मनुष्य निर्लिप्त रहता है। निर्लिप्त रहनेसे ‘योग’ होता है, लिप्तता होते ही ‘भोग’ हो जाता है। समबुद्धि तीनों योगोंमें है, पर कर्मयोगमें विशेष है; क्योंकि भौतिक साधना होनेसे कर्मयोगीके सामने विषमता ज्यादा आती है।

सम्बन्ध—जो समता (समबुद्धि) कर्मयोगसे प्राप्त होती है, वही समता ध्यानयोगसे भी प्राप्त होती है। इसलिये भगवान् ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले ध्यानयोगके लिये प्रेरणा करते हैं।

**योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।**

**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥**

अपरिग्रहः	= भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला,	तथा शरीरको वशमें रखनेवाला	स्थितः	= स्थित होकर
निराशीः	= इच्छारहित (और)	योगी	आत्मानम्	= मनको
यतचित्तात्मा	= अन्तःकरण	एकाकी	सततम्	= निरन्तर
		रहसि	युञ्जीत	= (परमात्तामें) लगाये।
		= एकात्ममें		

व्याख्या—[पाँचवें अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें जिस ध्यानयोगका संक्षेपसे वर्णन किया था, अब यहाँ उसीका विस्तारसे वर्णन कर रहे हैं।

‘युज् समाधौ’ धातुसे जो ‘योग’ शब्द बनता है, जिसका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध करना है<sup>१</sup>, उस योगका वर्णन यहाँ दसवें श्लोकसे आरम्भ करते हैं।]

‘अपरिग्रहः’—चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगका साधन संसारमात्रसे विमुख होकर और केवल परमात्माके सम्मुख होकर किया जाता है। अतः उसके लिये पहला साधन बताते हैं—‘अपरिग्रहः’ अर्थात् अपने लिये सुखबुद्धिसे कुछ भी संग्रह न करे। कारण कि अपने सुखके लिये भोग और संग्रह करनेसे उसमें मनका खिंचाव रहेगा, जिससे साधकका मन ध्यानमें नहीं लगेगा। अतः ध्यानयोगके साधकके लिये अपरिग्रह होना जरूरी है।

‘निराशीः’<sup>२</sup>—पहले ‘अपरिग्रहः’ पदसे बाहरके भोग-पदार्थोंका त्याग बताया, अब ‘निराशीः’ पदसे भीतरकी भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करनेके लिये कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भीतरमें किसी भी भोगको भोगबुद्धिसे भोगनेकी इच्छा, कामना, आशा न रखे। कारण कि मनमें उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका महत्त्व, आशा, कामना परमात्मप्राप्तिमें महान् बाधक है। अतः इसमें साधकको सावधान रहना चाहिये।

‘यतचित्तात्मा’—बाहरसे अपने सुखके लिये पदार्थ और संग्रहका त्याग तथा भीतरसे उनकी कामना-आशाका त्याग होनेपर भी अन्तःकरण आदिमें नया राग होनेकी सम्भावना रहती है, अतः यहाँ तीसरा साधन बताते हैं—‘यतचित्तात्मा’ अर्थात् साधक अन्तःकरणसहित शरीरको वशमें रखनेवाला हो। इनके वशमें होनेपर फिर नया राग पैदा नहीं होगा। इनको वशमें करनेका उपाय है—कोई भी नया काम रागपूर्वक न करे। कारण कि रागपूर्वक प्रवृत्ति होनेसे शरीरकी आराम-आलस्यमें, इन्द्रियोंकी भोगोंमें और मनकी भोगोंके चिन्तनमें अथवा व्यर्थ चिन्तनमें प्रवृत्ति होती है, इसलिये अन्तःकरण और शरीरको वशमें करनेकी बात कही गयी है।

‘योगी’—जिसका ध्येय, लक्ष्य केवल परमात्तामें लगनेका ही है अर्थात् जो परमात्मप्राप्तिके लिये ही ध्यानयोग करनेवाला है, सिद्धियों और भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, उसको यहाँ ‘योगी’ कहा गया है।

‘एकाकी’—ध्यानयोगका साधक अकेला हो, साथमें कोई सहायक न हो; क्योंकि दो होंगे तो बातचीत होने लग जायगी और साथमें कोई सहायक होगा तो रागके कारण उसकी याद आती रहेगी, जिससे मन भगवान्में नहीं लगेगा।

‘रहसि स्थितः’—साधकको कहाँ स्थित होना

१-‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ (पातंजलयोगदर्शन १।२)

२-‘आशिष्’ नाम इच्छाका है और ‘निस्’ नाम रहित होनेका है; अतः ‘निराशीः’ का अर्थ हुआ—इच्छासे रहित होना।

चाहिये—इसके लिये बताते हैं कि वह एकान्तमें स्थित रहे अर्थात् ऐसे स्थानमें स्थित रहे, जहाँ ध्यानके विरुद्ध कोई वातावरण न हो। जैसे, नदीका किनारा हो, वनमें एकान्त स्थान हो, एकान्त मन्दिर आदि हो अथवा घरमें ही एक कमरा ऐसा हो, जिसमें केवल भजन-ध्यान किया जाय। उसमें न तो स्वयं भोजन-शयन करे और न कोई दूसरा ही करे।

‘आत्मानं सततं युञ्जीत’—उपर्युक्त प्रकारसे एकान्तमें बैठकर मनको निरन्तर भगवान्में लगाये। मनको निरन्तर भगवान्में लगानेके लिये खास बात है कि जब ध्यान करनेके लिये एकान्त स्थानपर जाय, तब जानेसे पहले ही यह विचार कर ले ‘अब मेरेको संसारका कोई काम नहीं करना है, केवल भगवान्का ध्यान ही करना है। अब भगवान्के सिवाय दूसरेका चिन्तन करना ही नहीं है’—इस बातको लेकर निरन्तर सावधान रहे; क्योंकि सावधानी ही साधना है।

साधकके लिये इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि वह ध्यानके समय तो भगवान्के चिन्तनमें तत्परतापूर्वक लगा रहे, व्यवहारके समय भी निर्लिप्त रहते हुए भगवान्का चिन्तन करता रहे; क्योंकि व्यवहारके समय भगवान्का चिन्तन न होनेसे संसारमें लिप्तता अधिक होती है। व्यवहारके समय भगवान्का चिन्तन करनेसे ध्यानके समय चिन्तन करना सुगम होता है और ध्यानके समय ठीक तरहसे चिन्तन होनेसे व्यवहारके समय भी चिन्तन होता रहता है अर्थात् दोनों समयमें किया गया चिन्तन एक-दूसरेका सहायक होता है। तात्पर्य है कि साधकका साधकपना हर समय जाग्रत् रहे। वह संसारमें तो भगवान्को मिलाये, पर भगवान्में संसारको न मिलाये अर्थात् सांसारिक कार्य करते समय भी भगवत्स्मरण करता रहे।

यदि ध्यानके लिये बैठते समय साधक ‘अमुक काम करना है, इतना लेना है, इतना देना है, अमुक जगह जाना है, अमुकसे मिलना है’ आदि कार्यको मनमें जमा रखेगा अर्थात् मनमें इनका संकल्प करेगा, तो उसका मन भगवान्के ध्यानमें नहीं लगेगा। अतः ध्यानके लिये बैठते समय यह दृढ़ निश्चय कर ले कि चाहे जो हो जाय, गरदन भले ही कट जाय, मेरेको केवल भगवान्का ध्यान ही

करना है। ऐसा दृढ़ विचार होनेसे भगवान्में मन लगानेमें बड़ी सुविधा हो जायगी।

साधककी यह शिकायत रहती है कि भगवान्में मन नहीं लगता, तो इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि साधक संसारसे सम्बन्ध तोड़कर ध्यान नहीं करता, प्रत्युत संसारसे सम्बन्ध जोड़कर करता है। अतः अपने सुख, सेवाके लिये भीतरसे किसीको भी अपना न माने अर्थात् किसीमें ममता न रखे; क्योंकि मन वहीं जायगा, जहाँ ममता होगी। इसलिये उद्देश्य केवल परमात्माका रहे और सबसे निर्लिप्त रहे, तो भगवान्में मन लग सकता है।

### विशेष बात

अर्जुन पहले भी युद्धके लिये तैयार थे और अन्तमें भी उन्होंने युद्ध किया। केवल बीचमें वे युद्धको पाप समझने लगे थे तो भगवान्के समझा देनेसे उन्होंने युद्ध करना स्वीकार किया। इस तरह प्रसंग कर्मोंका होनेसे गीतामें कर्मयोगका विषय आना तो ठीक ही था, पर इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कई पारमार्थिक साधनोंका वर्णन कैसे आया है? उनमें भी यहाँ ध्यानयोगका वर्णन आया, जिसमें केवल एकान्तमें बैठकर ध्यान लगाना पड़ता है। यह प्रसंग ही यहाँ क्यों आया?

अर्जुन पापके भयसे युद्धसे उपरत होते हैं, तो उनके भीतर कल्याणकी इच्छा जाग्रत् होती है। अतः वे भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि जिससे मेरा निश्चित श्रेय (कल्याण) हो, वह बात आप कहिये (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)। इसपर भगवान्को श्रेय करनेवाले जितने मार्ग हैं, वे सब बताने पड़े। उनमें दान, यज्ञ, तप, वेदाध्ययन, प्राणायाम, ध्यानयोग, हठयोग, लययोग आदिको कहना भी कर्तव्य हो जाता है। इसलिये भगवान्ने गीतामें कल्याणकारक साधन बताये हैं। उन सब साधनोंमें भगवान्ने यह बात बतायी कि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका जो लक्ष्य है, वही खास बन्धनकारक है। अगर साधकका लक्ष्य केवल परमात्माका है, तो फिर उसके सामने कोई भी कर्तव्य-कर्म आ जाय, उसको समभावसे करना चाहिये। समभावसे किये गये सब-के-सब कर्तव्य-कर्म कल्याण करनेवाले होते हैं।

**परिशिष्ट भाव**—कर्मयोग\*, ज्ञानयोग और भक्तियोग तो करणनिरपेक्ष साधन हैं, पर ध्यानयोग करणसापेक्ष साधन है। अब भगवान् ध्यानयोगका वर्णन आरम्भ करते हैं।

\* कर्मयोगमें ‘कर्म’ तो करणसापेक्ष है, पर ‘योग’ करणनिरपेक्ष है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने ध्यानयोगके लिये प्रेरणा की। ध्यानयोगका साधन कैसे करे—इसके लिये अब आगेके तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगकी उपयोगी बातें बताते हैं।

## शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

शुचौ	= शुद्ध	बिछे हैं,	(ऐसे)
देशे	= भूमिपर,	न = (जो) न	आत्मनः = अपने
चैलाजिन-		अत्युच्छ्रितम् = अत्यन्त ऊँचा है	आसनम् = आसनको
कुशोत्तरम्	= (जिसपर क्रमशः)	(और)	स्थिरम् = स्थिर
	कुश, मृगछाला	न = न	प्रतिष्ठाप्य = स्थापन
	और वस्त्र	अतिनीचम् = अत्यन्त नीचा,	करके।

व्याख्या—‘शुचौ देशे’—भूमिकी शुद्धि दो तरहकी होती है—(१) स्वाभाविक शुद्ध स्थान; जैसे—गंगा आदिका किनारा; जंगल; तुलसी, आँवला, पीपल आदि पवित्र वृक्षोंके पासका स्थान आदि और (२) शुद्ध किया हुआ स्थान; जैसे—भूमिको गायके गोबरसे लीपकर अथवा जल छिड़ककर शुद्ध किया जाय; जहाँ मिट्टी हो, वहाँ ऊपरकी चार-पाँच अंगुल मिट्टी दूर करके भूमिको शुद्ध किया जाय। ऐसी स्वाभाविक अथवा शुद्ध की हुई समतल भूमिमें काठ या पत्थरकी चौकी आदिको लगा दे।

‘चैलाजिनकुशोत्तरम्’—यद्यपि पाठके अनुसार क्रमशः वस्त्र, मृगछाला और कुश बिछानी चाहिये\*, तथापि बिछानेमें पहले कुश बिछा दे, उसके ऊपर बिना मारे हुए मृगका अर्थात् अपने-आप मरे हुए मृगका चर्म बिछा दे; क्योंकि मारे हुए मृगका चर्म अशुद्ध होता है। अगर ऐसी मृगछाला न मिले, तो कुशपर टाटका बोरा अथवा ऊनका कम्बल बिछा दे। फिर उसके ऊपर कोमल सूती कपड़ा बिछा दे।

वाराहभगवान्के रोमसे उत्पन्न होनेके कारण कुश बहुत पवित्र माना गया है; अतः उससे बना आसन काममें लाते हैं। ग्रहण आदिके समय सूतकसे बचनेके लिये अर्थात् शुद्धिके लिये कुशको पदार्थोंमें, कपड़ोंमें रखते हैं। पवित्री, प्रोक्षण आदिमें भी इसको काममें लेते हैं। अतः भगवान्ने कुश बिछानेके लिये कहा है।

कुश शरीरमें गड़े नहीं और हमारे शरीरमें जो विद्युत्-

शक्ति है वह आसनमेंसे होकर जमीनमें न चली जाय, इसलिये (विद्युत्-शक्तिको रोकनेके लिये) मृगछाला बिछानेका विधान आया है।

मृगछालाके रोम (रोएँ) शरीरमें न लगेँ और आसन कोमल रहे, इसलिये मृगछालाके ऊपर सूती शुद्ध कपड़ा बिछानेके लिये कहा गया है। अगर मृगछालाकी जगह कम्बल या टाट हो, तो वह गरम न हो जाय, इसलिये उसपर सूती कपड़ा बिछाना चाहिये।

‘नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्’—समतल शुद्ध भूमिमें जो तख्त या चौकी रखी जाय, वह न अत्यन्त ऊँची हो और न अत्यन्त नीची हो। कारण कि अत्यन्त ऊँची होनेसे ध्यान करते समय अचानक नींद आ जाय तो गिरनेकी और चोट लगनेकी सम्भावना रहेगी और अत्यन्त नीची होनेसे भूमिपर घूमनेवाले चींटी आदि जन्तुओंके शरीरपर चढ़ जानेसे और काटनेसे ध्यानमें विक्षेप होगा। इसलिये अति ऊँचे और अति नीचे आसनका निषेध किया गया है।

‘प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः’—ध्यानके लिये भूमिपर जो आसन—चौकी या तख्त रखा जाय, वह हिलनेवाला न हो। भूमिपर उसके चारों पाये ठीक तरहसे स्थिर रहें।

जिस आसनपर बैठकर ध्यान आदि किया जाय, वह आसन अपना होना चाहिये, दूसरेका नहीं; क्योंकि दूसरेका आसन काममें लिया जाय तो उसमें वैसे ही परमाणु रहते हैं। अतः यहाँ ‘आत्मनः’ पदसे अपना आसन अलग

\* श्लोकमें जैसा पाठ है, अगर वैसा ही लिया जाय तो नीचे कपड़ा, उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कुश बिछानी पड़ेगी। परन्तु यह क्रम लेना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि कुश शरीरमें गड़ती है। अतः नीचे कुश, उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कपड़ा—ऐसा क्रम लिया गया है; क्योंकि पाठ-क्रमसे अर्थ-क्रम बलवान् होता है—‘पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्’।

रखनेका विधान आया है। इसी तरहसे गोमुखी, माला, सन्ध्याके पंचपात्र, आचमनी आदि भी अपने अलग रखने चाहिये। शास्त्रोंमें तो यहाँतक विधान आया है कि दूसरोंके बैठनेका आसन, पहननेकी जूती, खड़ाऊँ, कुर्ता आदिको

अपने काममें लेनेसे अपनेको दूसरोंके पाप-पुण्यका भागी होना पड़ता है! पुण्यात्मा सन्त-महात्माओंके आसनपर भी नहीं बैठना चाहिये; क्योंकि उनके आसन, कपड़े आदिको पैरसे छूना भी उनका निरादर करना है, अपराध करना है।

## तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

तत्र	= उस	क्रियाओंको	आत्मविशुद्धये	= अन्तःकरणकी
आसने	= आसनपर	वशमें रखते हुए।		शुद्धिके
उपविश्य	= बैठकर	मनः		लिये
यतचित्तेन्द्रियक्रियः	= चित्त और इन्द्रियोंकी	एकाग्रम्		योगम्
		कृत्वा		= योगका
				युञ्ज्यात्
				= अभ्यास करे।

**व्याख्या**—[पूर्वश्लोकमें बिछाये जानेवाले आसनकी विधि बतानेके बाद अब भगवान् बारहवें और तेरहवें श्लोकमें बैठनेवाले आसनकी विधि बताते हैं।]

**‘तत्र आसने’**—जिस आसनपर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछाया हुआ है, ऐसे पूर्वश्लोकमें वर्णित आसनके लिये यहाँ **‘तत्र आसने’** पद आये हैं।

**‘उपविश्य’**—उस बिछाये हुए आसनपर सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन आदि जिस किसी आसनसे सुखपूर्वक बैठ सके, उस आसनसे बैठ जाना चाहिये। आसनके विषयमें ऐसा आया है कि जिस किसी आसनसे बैठे, उसीमें लगातार तीन घंटेतक बैठा रहे। उतने समयतक इधर-उधर हिले-डुले नहीं। ऐसा बैठनेका अभ्यास सिद्ध होनेसे मन और प्राण स्वतः-स्वाभाविक शान्त (चंचलता-रहित) हो जाते हैं। कारण कि मनकी चंचलता शरीरको स्थिर नहीं होने देती और शरीरकी चंचलता, क्रिया-प्रवणता मनको स्थिर नहीं होने देती। इसलिये ध्यानके समय शरीरका स्थिर रहना बहुत आवश्यक है।

**‘यतचित्तेन्द्रियक्रियः’**—आसनपर बैठनेके समय चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ वशमें रहनी चाहिये। व्यवहारके समय भी शरीर, मन, इन्द्रियों आदिकी क्रियाओंपर अपना अधिकार रहना चाहिये। कारण कि व्यवहारकालमें चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ वशमें नहीं होंगी तो ध्यानके समय भी वे क्रियाएँ जल्दी वशमें नहीं हो सकेंगी। अतः व्यवहारकालमें भी चित्त आदिकी क्रियाओंको वशमें रखना आवश्यक है। तात्पर्य है कि अपना जीवन ठीक तरहसे संयत होना चाहिये। आगे सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें भी

संयत जीवन रखनेके लिये कहा गया है।

**‘एकाग्रं मनः कृत्वा’**—मनको एकाग्र करे अर्थात् मनमें संसारके चिन्तनको बिलकुल मिटा दे। इसके लिये ऐसा विचार करे कि अब मैं ध्यान करनेके लिये आसनपर बैठा हूँ। यदि इस समय मैं संसारका चिन्तन करूँगा तो अभी संसारका काम तो होगा नहीं और संसारका चिन्तन होनेसे परमात्माका चिन्तन, ध्यान भी नहीं होगा। इस तरह दोनों ओरसे मैं रीता रह जाऊँगा और ध्यानका समय बीत जायगा। इसलिये इस समय मेरेको संसारका चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत मनको केवल परमात्मामें ही लगाना है। ऐसा दृढ़ निश्चय करके बैठ जाय। ऐसा दृढ़ निश्चय करनेपर भी संसारकी कोई बात याद आ जाय तो यही समझे कि यह चिन्तन मेरा किया हुआ नहीं है; किंतु अपने-आप आया हुआ है। जो चिन्तन अपने-आप आता है, उसको हम पकड़ें नहीं अर्थात् न तो उसका अनुमोदन करें और न उसका विरोध ही करें। ऐसा करनेपर वह चिन्तन अपने-आप निर्जीव होकर नष्ट हो जायगा अर्थात् जैसे आया, वैसे चला जायगा; क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट होता ही है—यह नियम है। जैसे संसारमें बहुत-से अच्छे-मन्दे कार्य होते रहते हैं, पर उनके साथ हम अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते तो उनका हमारेपर कोई असर नहीं होता अर्थात् हमें उनका पाप-पुण्य नहीं लगता। ऐसे ही अपने-आप आनेवाले चिन्तनके साथ हम सम्बन्ध नहीं जोड़ेंगे, तो उस चिन्तनका हमारेपर कोई असर नहीं होगा, उसके साथ हमारा मन नहीं चिपकेगा। जब मन नहीं चिपकेगा तो वह स्वतः एकाग्र, शान्त हो जायगा।



‘युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये’— अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही ध्यानयोगका अभ्यास करे। सांसारिक पदार्थ, भोग, मान, बड़ाई, आराम, यश-प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा आदिका उद्देश्य रखना अर्थात् इनकी कामना रखना ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है और सांसारिक पदार्थ आदिकी प्राप्तिका उद्देश्य, कामना न रखकर केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

ऋद्धि, सिद्धि आदिकी प्राप्तिके लिये और दूसरोंको दिखानेके लिये भी योगका अभ्यास किया जा सकता है, पर उनसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाय—ऐसी बात नहीं है। ‘योग’ एक शक्ति है, जिसको सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें लगा दें तो भोग—ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी और परमात्माकी प्राप्तिमें लगा दें तो परमात्मप्राप्तिमें सहायक बन जायगी।

## समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

### सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

कायशिरोग्रीवम् =	काया, शिर और गलेको	च	= तथा	नासिकाग्रम्	= नासिकाके अग्रभागको
समम्	= सीधे	दिशः	= दिशाओंको	सम्प्रेक्ष्य	= देखते हुए
अचलम्	= अचल	अनवलोकयन्	= न देखकर (केवल)	स्थिरः	= स्थिर होकर (बैठे)।
धारयन्	= धारण करके	स्वम्	= अपनी		

व्याख्या—‘समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलम्’— यद्यपि ‘काय’ नाम शरीरमात्रका है, तथापि यहाँ (आसनपर बैठनेके बाद) कमरसे लेकर गलेतकके भागको ‘काय’ नामसे कहा गया है। ‘शिर’ नाम ऊपरके भागका अर्थात् मस्तिष्कका है और ‘ग्रीवा’ नाम मस्तिष्क और कायाके बीचके भागका है। ध्यानके समय ये काया, शिर और ग्रीवा सम, सीधे रहें अर्थात् रीढ़की जो हड्डी है, उसकी सब गाँठें सीधे भागमें रहें और उसी सीधे भागमें मस्तक तथा ग्रीवा रहे। तात्पर्य है कि काया, शिर और ग्रीवा— ये तीनों एक सूत्रमें अचल रहें। कारण कि इन तीनोंके आगे झुकनेसे नींद आती है, पीछे झुकनेसे जडता आती है और दायें-बायें झुकनेसे चंचलता आती है। इसलिये न आगे झुके, न पीछे झुके और न दायें-बायें ही झुके। दण्डकी तरह सीधा-सरल बैठा रहे।

सिद्धासन, पद्मासन आदि जितने भी आसन हैं, आरोग्यकी दृष्टिसे वे सभी ध्यानयोगमें सहायक हैं। परन्तु यहाँ भगवान्ने सम्पूर्ण आसनोंकी सार चीज बतायी है— काया, शिर और ग्रीवाको सीधे समतामें रखना। इसलिये भगवान्ने बैठनेके सिद्धासन, पद्मासन आदि किसी भी आसनका नाम नहीं लिया है, किसी भी आसनका आग्रह नहीं रखा है। तात्पर्य है कि चाहे किसी भी आसनसे बैठे, पर काया, शिर और ग्रीवा एक सूत्रमें ही रहने चाहिये; क्योंकि इनके एक सूत्रमें रहनेसे मन बहुत जल्दी शान्त और

स्थिर हो जाता है।

आसनपर बैठे हुए कभी नींद सताने लगे, तो उठकर थोड़ी देर इधर-उधर घूम ले। फिर स्थिरतासे बैठ जाय और यह भावना बना ले कि अब मेरेको उठना नहीं है, इधर-उधर झुकना नहीं है। केवल स्थिर और सीधे बैठकर ध्यान करना है।

‘दिशश्चानवलोकयन्’—दस दिशाओंमें कहीं भी देखे नहीं; क्योंकि इधर-उधर देखनेके लिये जब ग्रीवा हिलेगी, तब ध्यान नहीं होगा, विक्षेप होगा। अतः ग्रीवाको स्थिर रखे।

‘सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वम्’—अपनी नासिकाके अग्रभागको देखता रहे अर्थात् अपने नेत्रोंको अर्धनिमीलित (अधमूँदे) रखे। कारण कि नेत्र मूँद लेनेसे नींद आनेकी सम्भावना रहती है और नेत्र खुले रखनेसे सामने दृश्य दीखेगा, उसके संस्कार पड़ेंगे तो ध्यानमें विक्षेप होनेकी सम्भावना रहती है। अतः नासिकाके अग्रभागको देखनेका तात्पर्य अर्धनिमीलित नेत्र रखनेमें ही है।

‘स्थिरः’—आसनपर बैठनेके बाद शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिकी कोई भी और किसी भी प्रकारकी क्रिया न हो, केवल पत्थरकी मूर्तिकी तरह बैठा रहे। इस प्रकार एक आसनसे कम-से-कम तीन घण्टे स्थिर बैठे रहनेका अभ्यास हो जायगा, तो उस आसनपर उसकी विजय हो जायगी अर्थात् वह ‘जितासन’ हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—यहाँ नासिकाके अग्रभागको देखना मुख्य नहीं है, प्रत्युत मनको एकाग्र करना मुख्य है।

सम्बन्ध—बिछाने और बैठनेके आसनकी विधि बताकर अब आगेके दो श्लोकोंमें फलसहित सगुण-साकारके ध्यानका प्रकार बताते हैं।

**प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।**

**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥ १४ ॥**

प्रशान्तात्मा	= जिसका अन्तः- करण शान्त है,	स्थितः	= स्थित है, (ऐसा)	मच्चित्तः	= मेरेमें चित्त
विगतभीः	= जो भयरहित है (और)	युक्तः	= सावधान ध्यानयोगी		लगाता
ब्रह्मचारिव्रते	= जो ब्रह्मचारिव्रतमें	मनः	= मनका	मत्परः	= मेरे परायण होकर
		संयम्य	= संयम करके	आसीत्	= बैठे।

व्याख्या—‘प्रशान्तात्मा’—जिसका अन्तःकरण राग-द्वेषसे रहित है, वह ‘प्रशान्तात्मा’ है। जिसका सांसारिक विशेषता प्राप्त करनेका, ऋद्धि-सिद्धि आदि प्राप्त करनेका उद्देश्य न होकर केवल परमात्मप्राप्तिका ही दृढ़ उद्देश्य होता है, उसके राग-द्वेष शिथिल होकर मिट जाते हैं। राग-द्वेष मिटनेपर स्वतः शान्ति आ जाती है, जो कि स्वतःसिद्ध है। तात्पर्य है कि संसारके सम्बन्धके कारण ही हर्ष, शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व होते हैं और इन्हीं द्वन्द्वोंके कारण शान्ति भंग होती है। जब ये द्वन्द्व मिट जाते हैं, तब स्वतःसिद्ध शान्ति प्रकट हो जाती है। उस स्वतःसिद्ध शान्तिको प्राप्त करनेवालेका नाम ही ‘प्रशान्तात्मा’ है।

‘विगतभीः’—शरीरको ‘मैं’ और ‘मेरा’ माननेसे ही रोगका, निन्दाका, अपमानका, मरने आदिका भय पैदा होता है। परन्तु जब मनुष्य शरीरके साथ ‘मैं’ और ‘मेरे’-पनकी मान्यताको छोड़ देता है, तब उसमें किसी भी प्रकारका भय नहीं रहता। कारण कि उसके अन्तःकरणमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि इस शरीरको जीना हो तो जीयेगा ही, इसको कोई मार नहीं सकता और इस शरीरको मरना हो तो मरेगा ही, फिर इसको कोई बचा नहीं सकता। यदि यह मर भी जायगा तो बड़े आनन्दकी बात है; क्योंकि मेरी चित्तवृत्ति परमात्माकी तरफ होनेसे मेरा कल्याण तो हो ही जायगा! जब कल्याणमें कोई सन्देह ही नहीं, तो फिर भय किस बातका? इस भावसे वह सर्वथा भयरहित हो जाता है।

‘ब्रह्मचारिव्रते स्थितः’—यहाँ ‘ब्रह्मचारिव्रत’ का तात्पर्य केवल वीर्यरक्षासे ही नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मचारीके व्रतसे है। तात्पर्य है कि जैसे ब्रह्मचारीका जीवन गुरुकी आज्ञाके अनुसार संयत और नियत होता है, ऐसे ही ध्यानयोगीको अपना जीवन संयत और नियत रखना चाहिये। जैसे

ब्रह्मचारी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयोंसे तथा मान, बड़ाई और शरीरके आरामसे दूर रहता है, ऐसे ही ध्यानयोगीको भी उपर्युक्त आठ विषयोंमेंसे किसी भी विषयका भोगबुद्धिसे, रसबुद्धिसे सेवन नहीं करना चाहिये, प्रत्युत निर्वाहबुद्धिसे ही सेवन करना चाहिये। यदि भोगबुद्धिसे उन विषयोंका सेवन किया जायगा, तो ध्यानयोगकी सिद्धि नहीं होगी। इसलिये ध्यान-योगीको ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित रहना बहुत आवश्यक है।

व्रतमें स्थित रहनेका तात्पर्य है कि किसी भी अवस्था, परिस्थिति, आदिमें किसी भी कारणसे कभी किंचिन्मात्र भी सुखबुद्धिसे पदार्थोंका सेवन न हो, चाहे वह ध्यानकाल हो, चाहे व्यवहारकाल हो। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंका ब्रह्मचर्य आ जाता है।

‘मनः संयम्य मच्चित्तः’—मनको संयत करके मेरेमें ही लगा दे अर्थात् चित्तको संसारकी तरफसे सर्वथा हटाकर केवल मेरे स्वरूपके चिन्तनमें, मेरी लीला, गुण, प्रभाव, महिमा आदिके चिन्तनमें ही लगा दे। तात्पर्य है कि सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिको लेकर मनमें जो कुछ संकल्प-विकल्परूपसे चिन्तन होता है, उससे मनको हटाकर एक मेरेमें ही लगाता रहे।

मनमें जो कुछ चिन्तन होता है, वह प्रायः भूतकालका होता है और कुछ भविष्यकालका भी होता है तथा वर्तमानमें साधक मन परमात्मामें लगाना चाहता है। जब भूतकालकी बात याद आ जाय, तब यह समझे कि वह घटना अभी नहीं है और भविष्यकी बात याद आ जाय, तो वह भी अभी नहीं है। वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर जितने संकल्प-विकल्प हो रहे हैं, वे उन्हीं वस्तु, व्यक्ति आदिके हो रहे हैं, जो अभी नहीं हैं।

हमारा लक्ष्य परमात्माके चिन्तनका है, संसारके चिन्तनका नहीं। अतः जिस संसारका चिन्तन हो रहा है, वह संसार पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और अभी भी नहीं है। परन्तु जिन परमात्माका चिन्तन करना है, वे परमात्मा पहले भी थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। इस तरह सांसारिक वस्तु आदिके चिन्तनसे मनको हटाकर परमात्मामें लगा देना चाहिये। कारण कि भूतकालका कितना ही चिन्तन किया जाय, उससे लाभ तो कुछ होगा नहीं और भविष्यका चिन्तन किया जाय तो वह काम अभी कर सकेंगे नहीं तथा भूत-भविष्यका चिन्तन होता रहनेसे जो अभी ध्यान करते हैं, वह भी होगा नहीं तो सब ओरसे रीते ही रह जायेंगे।

‘युक्तः’—ध्यान करते समय सावधान रहे अर्थात् मनको संसारसे हटाकर भगवान्में लगानेके लिये सदा सावधान, जाग्रत् रहे। इसमें कभी प्रमाद, आलस्य आदि न करे। तात्पर्य है कि एकान्तमें अथवा व्यवहारमें भगवान्में

मन लगानेकी सावधानी सदा बनी रहनी चाहिये; क्योंकि चलते-फिरते, काम-धन्धा करते समय भी सावधानी रहनेसे एकान्तमें मन अच्छा लगेगा और एकान्तमें मन अच्छा लगनेसे व्यवहार करते समय भी मन लगानेमें सुविधा होगी। अतः ये दोनों एक-दूसरेके सहायक हैं अर्थात् व्यवहारकी सावधानी एकान्तमें और एकान्तकी सावधानी व्यवहारमें सहायक है।

‘आसीत मत्परः’—केवल भगवत्परायण होकर बैठे अर्थात् उद्देश्य, लक्ष्य, ध्येय केवल भगवान्का ही रहे। भगवान्के सिवाय कोई भी सांसारिक वासना, आसक्ति, कामना, स्पृहा, ममता आदि न रहे।

इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें ‘योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः’ पदोंसे ध्यानयोगका जो उपक्रम किया था, उसीको यहाँ ‘युक्त आसीत मत्परः’ पदोंसे कहा गया है।

**परिशिष्ट भाव**—अपनी विशेषता माननेसे आसुरी सम्पत्ति आ जाती है। इसलिये भगवान्ने ‘मत्परः’ पदसे ध्यानयोगीके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कही है। भगवत्परायणतामें भगवान्का बल रहनेसे विकार शीघ्र दूर हो जाते हैं और अभिमान भी नहीं होता। यह भक्तिकी विशेषता है।

इस श्लोकमें ‘मन’ और ‘चित्त’—ये दो समानार्थक पद आये हैं। ‘मन’ से किसी वस्तुका बार-बार मनन किया जाता है और ‘चित्त’ से किसी एक ही वस्तुका चिन्तन किया जाता है। अतः यहाँ आये ‘मनः संयम्य मच्चित्तः’ पदोंका तात्पर्य है कि संसारका मनन नहीं करे अर्थात् मनको संसारसे हटा ले और चित्तसे केवल भगवान्का चिन्तन करे अर्थात् चित्तको केवल भगवान्में लगा दे।

## युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

## शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

नियतमानसः	= वशमें किये हुए मनवाला	सदा	= सदा	निर्वाणपरमाम्	= (जो)
योगी	= योगी	युञ्जन्	= (परमात्मामें) लगाता हुआ	शान्तिम्	= शान्ति है, (उसको)
आत्मानम्	= मनको	मत्संस्थाम्	= मुझमें सम्यक् स्थितिवाली	अधिगच्छति	= प्राप्त हो जाता है।
एवम्	= इस तरहसे				

**व्याख्या**—‘योगी नियतमानसः’—जिसका मनपर अधिकार है, वह ‘नियतमानसः’ है। साधक ‘नियत-मानस’ तभी हो सकता है, जब उसके उद्देश्यमें केवल परमात्मा ही रहते हैं। परमात्माके सिवाय उसका और किसीसे सम्बन्ध नहीं रहता। कारण कि जबतक उसका सम्बन्ध संसारके साथ बना रहता है, तबतक उसका मन नियत नहीं हो सकता।

साधकसे यह एक बड़ी गलती होती है कि वह अपने-आपको गृहस्थ आदि मानता है और साधन ध्यानयोगका करता है। जिससे ध्यानयोगकी सिद्धि जल्दी नहीं होती। अतः साधकको चाहिये कि वह अपने-आपको गृहस्थ, साधु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि किसी वर्ण-आश्रमका न मानकर ऐसा माने कि ‘मैं तो केवल ध्यान करनेवाला हूँ। ध्यानसे परमात्माकी प्राप्ति करना ही मेरा काम

है। सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि आदिको प्राप्त करना मेरा उद्देश्य ही नहीं है।' इस प्रकार अहंताका परिवर्तन होनेपर मन स्वाभाविक ही नियत हो जायगा; क्योंकि जहाँ अहंता होती है, वहाँ ही अन्तःकरण और बहिःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्'—दसवें श्लोकके 'योगी युञ्जीत सततम्' पदोंसे लेकर चौदहवें श्लोकके 'युक्त आसीत मत्परः' पदोंतक जितना ध्यानका, मन लगानेका वर्णन हुआ है, उस सबको यहाँ 'एवम्' पदसे लेना चाहिये।

'युञ्जन् आत्मानम्' का तात्पर्य है कि मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगाते रहना चाहिये।

'सदा' का तात्पर्य है कि प्रतिदिन नियमितरूपसे ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये। कभी योगका अभ्यास किया और कभी नहीं किया—ऐसा करनेसे ध्यानयोगकी सिद्धि जल्दी नहीं होती। दूसरा तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्राप्ति लक्ष्य एकान्तमें अथवा व्यवहारमें निरन्तर बना रहना चाहिये।

'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति'—भगवान्में जो वास्तविक स्थिति है, जिसको प्राप्त होनेपर कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता, उसको यहाँ 'निर्वाणपरमा शान्ति' कहा गया है। ध्यानयोगी ऐसी निर्वाणपरमा शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

एक 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और एक 'निर्विकल्प बोध' होता है। ध्यानयोगमें पहले निर्विकल्प स्थिति होती है, फिर उसके बाद निर्विकल्प बोध होता है। इसी निर्विकल्प बोधको यहाँ 'निर्वाणपरमा शान्ति' नामसे कहा गया है।

शान्ति दो तरहकी होती है—शान्ति और परमशान्ति। संसारके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) से 'शान्ति' होती है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर 'परमशान्ति' होती है। इसी परमशान्तिको गीतामें 'नैष्ठिकी शान्ति' (पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक), 'शश्वच्छान्ति' (नवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक) आदि नामोंसे और यहाँ निर्वाणपरमा शान्ति नामसे कहा गया है।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें ध्यानयोगके लिये उपयोगी नियमोंका क्रमशः व्यतिरेक और अन्वय-रीतिसे वर्णन करते हैं।

**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।**

**न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥**

अर्जुन	= हे अर्जुन !	न	= न	च	= और
योगः	= (यह) योग	एकान्तम्	= बिलकुल	न	= न
न	= न	अनश्नतः	= न खानेवालेका	जाग्रतः	= (बिलकुल) न सोनेवालेका
तु	= तो	च	= तथा	एव	= ही
अति	= अधिक	न	= न	अस्ति	= सिद्ध
अश्नतः	= खानेवालेका	अति	= अधिक		= होता है।
च	= और	स्वप्नशीलस्य	= सोनेवालेका		

व्याख्या—'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति'—अधिक खानेवालेका योग सिद्ध नहीं होता\*। कारण कि अन्न अधिक खानेसे अर्थात् भूखके बिना खानेसे अथवा भूखसे अधिक खानेसे प्यास ज्यादा लगती है, जिससे पानी ज्यादा पीना पड़ता है। ज्यादा अन्न खाने और पानी पीनेसे पेट भारी हो जाता है। पेट भारी होनेसे शरीर भी बोझिल मालूम देता है। शरीरमें आलस्य छा जाता है। बार-बार पेट याद आता है। कुछ

भी काम करनेका अथवा साधन, भजन, जप, ध्यान आदि करनेका मन नहीं करता। न तो सुखपूर्वक बैठा जाता है और न सुखपूर्वक लेटा ही जाता है तथा न चलने-फिरनेका ही मन करता है। अजीर्ण आदि होनेसे शरीरमें रोग पैदा हो जाते हैं। इसलिये अधिक खानेवाले पुरुषका योग कैसे सिद्ध हो सकता है? नहीं हो सकता।

'न चैकान्तमनश्नतः'—ऐसे ही बिलकुल न खानेसे

\* दूसरोंके भोजनकी अपेक्षा अपना भोजन मात्रामें भले ही कम हो, पर अपनी भूखकी अपेक्षा अधिक होनेसे वह भोजन अधिक ही माना जाता है।

भी योग सिद्ध नहीं होता। कारण कि भोजन न करनेसे मनमें बार-बार भोजनका चिन्तन होता है। शरीरमें शक्ति कम हो जाती है। मांस-मज्जा आदि भी सूखते जाते हैं। शरीर शिथिल हो जाता है। चलना-फिरना कठिन हो जाता है। लेटे रहनेका मन करता है। जीना भारी हो जाता है। बैठ करके अभ्यास करना कठिन हो जाता है। चित्त परमात्मामें लगता ही नहीं। अतः ऐसे पुरुषका योग कैसे सिद्ध होगा ?

‘न चाति स्वप्नशीलस्य’—जिसका ज्यादा सोनेका स्वभाव होता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता। कारण कि ज्यादा सोनेसे स्वभाव बिगड़ जाता है अर्थात् बार-बार नींद सताती है। पड़े रहनेमें सुख और बैठे रहनेमें परिश्रम मालूम देता है। ज्यादा लेटे रहनेसे गाढ़ नींद भी नहीं आती। गाढ़ नींद न आनेसे स्वप्न आते रहते हैं, संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। शरीरमें आलस्य भरा रहता है। आलस्यके कारण बैठनेमें कठिनाई होती है। अतः वह योगका अभ्यास भी नहीं कर सकता, फिर योगकी सिद्धि कैसे होगी ?

‘जाग्रतो नैव चार्जुन’—हे अर्जुन! जब अधिक सोनेसे भी योगकी सिद्धि नहीं होती, तो फिर बिलकुल न सोनेसे योगकी सिद्धि हो ही कैसे सकती है? क्योंकि

आवश्यक नींद न लेकर अधिक जगनेसे बैठनेपर नींद सतायेगी, जिससे वह योगका अभ्यास नहीं कर सकेगा।

सात्त्विक मनुष्योंमें भी कभी सत्संगका, सात्त्विक गहरी बातोंका, भगवान्की कथाका अथवा भक्तोंके चरित्रोंका प्रसंग छिड़ जाता है, तो कथा आदि कहते हुए, सुनते हुए जब रस, आनन्द आता है, तब उनको भी नींद नहीं आती। परन्तु उनका जगना और तरहका होता है अर्थात् राजसी-तामसी वृत्तिवालोंका जैसा जगना होता है, वैसा जगना सात्त्विक वृत्तिवालोंका नहीं होता। उस जगनेमें सात्त्विक मनुष्योंको जो आनन्द मिलता है, उसमें उनको निद्राके विश्रामकी खुराक मिलती है। अतः रातों जगनेपर भी उनको और समयमें निद्रा नहीं सताती। इतना ही नहीं, उनका वह जगना भी गुणातीत होनेमें सहायता करता है। परन्तु राजसी और तामसी वृत्तिवाले जगते हैं तो उनको और समयमें निद्रा तंग करती है और रोग पैदा करती है।

ऐसे ही भक्तलोग भगवान्के नाम-जपमें, कीर्तनमें, भगवान्के विरहमें भोजन करना भूल जाते हैं, उनको भूख नहीं लगती, तो वे ‘अनश्नतः’ नहीं हैं। कारण कि भगवान्की तरफ लग जानेसे उनके द्वारा जो कुछ होता है, वह ‘सत्’ हो जाता है।

## युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

दुःखहा	= दुःखोंका नाश करनेवाला	कर्मसु	= कर्मोंमें	बोधस्य	= यथायोग्य सोने और जागनेवालेका (ही)
योगः	= योग (तो)	युक्तचेष्टस्य	= यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका (तथा)	भवति	= (सिद्ध) होता है।
युक्ताहार-विहारस्य	= यथायोग्य आहार और विहार	युक्तस्वप्नाव-			

व्याख्या—‘युक्ताहारविहारस्य’—भोजन सत्य और न्यायपूर्वक कमाये हुए धनका हो, सात्त्विक हो, अपवित्र न हो। भोजन स्वादबुद्धि और पुष्टिबुद्धिसे न किया जाय, प्रत्युत साधनबुद्धिसे किया जाय। भोजन धर्मशास्त्र और आयुर्वेदकी दृष्टिसे किया जाय तथा उतना ही किया जाय, जितना सुगमतासे पच सके। भोजन शरीरके अनुकूल हो तथा वह हलका और थोड़ी मात्रामें (खुराकसे थोड़ा कम) हो—ऐसा भोजन करनेवाला ही युक्त (यथोचित) आहार करनेवाला है।

विहार भी यथायोग्य हो अर्थात् ज्यादा घूमना-फिरना न हो, प्रत्युत स्वास्थ्यके लिये जैसा हितकर हो, वैसा ही घूमना-फिरना हो। व्यायाम, योगासन आदि भी न तो अधिक मात्रामें किये जायँ और न उनका अभाव ही हो। ये सभी यथायोग्य हों। ऐसा करनेवालेको यहाँ युक्त-विहार करनेवाला बताया गया है।

‘युक्तचेष्टस्य कर्मसु’—अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल जैसा देश, काल, परिस्थिति आदि प्राप्त हो जाय, उसके अनुसार शरीर-निर्वाहके लिये कर्म किये जायँ और अपनी

शक्तिके अनुसार कुटुम्बियोंकी एवं समाजकी हितबुद्धिसे सेवा की जाय तथा परिस्थितिके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय; उसको बड़ी प्रसन्नतापूर्वक किया जाय—इस प्रकार जिसकी कर्मोंमें यथोचित चेष्टा है, उसका नाम यहाँ 'युक्तचेष्ट' है।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—सोना इतनी मात्रामें हो, जिससे जगनेके समय निद्रा-आलस्य न सताये। दिनमें जागता रहे और रात्रिके समय भी आरम्भमें तथा रातके अन्तिम भागमें जागता रहे। रातके मध्यभागमें सोये। इसमें भी रातमें ज्यादा देरतक जागनेसे सबेरे जल्दी नींद नहीं खुलेगी। अतः जल्दी सोये और जल्दी जागे। तात्पर्य है कि जिस सोने और जागनेसे स्वास्थ्यमें बाधा न पड़े, योगमें विघ्न न आये, ऐसे यथोचित सोना और जागना चाहिये।

यहाँ 'युक्तस्वप्नस्य' कहकर निद्रावस्थाको ही यथोचित कह देते, तो योगकी सिद्धिमें बाधा नहीं लगती थी और पूर्वश्लोकमें कहे हुए 'अधिक सोना और बिलकुल न सोना'—इनका निषेध यहाँ 'यथोचित सोना' कहनेसे ही हो जाता, तो फिर यहाँ 'अवबोध' शब्द देनेमें क्या तात्पर्य है? यहाँ 'अवबोध' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिसके लिये मानवजन्म मिला है, उस काममें लग जाना, भगवान्में लग जाना अर्थात् सांसारिक सम्बन्धसे ऊँचा उठकर साधनामें यथायोग्य समय लगाना। इसीका नाम जागना है।

यहाँ ध्यानयोगीके आहार, विहार, चेष्टा, सोना और जगना—इन पाँचोंको 'युक्त' (यथायोग्य) कहनेका तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति, जीविका आदिको लेकर सबके नियम एक समान नहीं चल सकते; अतः जिसके लिये जैसा उचित हो, वैसा करनेसे दुःखोंका नाश करनेवाला योग सिद्ध हो जाता है।

'योगो भवति दुःखहा'—इस प्रकार यथोचित आहार, विहार आदि करनेवाले ध्यानयोगीका दुःखोंका अत्यन्त अभाव करनेवाला योग सिद्ध हो जाता है।

योग और भोगमें विलक्षण अन्तर है। योगमें तो भोगका

अत्यन्त अभाव है, पर भोगमें योगका अत्यन्त अभाव नहीं है। कारण कि भोगमें जो सुख होता है, वह सुखानुभूति भी असत्के संयोगका वियोग होनेसे होती है। परन्तु मनुष्यकी उस वियोगपर दृष्टि न रहकर असत्के संयोगपर ही दृष्टि रहती है। अतः मनुष्य भोगके सुखको संयोगजन्य ही मान लेता है और ऐसा माननेसे ही भोगासक्ति पैदा होती है। इसलिये उसको दुःखोंका नाश करनेवाले योगका अनुभव नहीं होता। दुःखोंका नाश करनेवाला योग वही होता है, जिसमें भोगका अत्यन्त अभाव होता है।

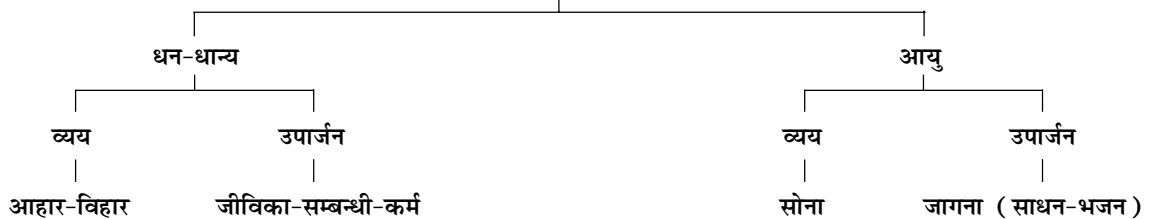
### विशेष बात

यद्यपि यह श्लोक ध्यानयोगीके लिये कहा गया है, तथापि इस श्लोकको सभी साधक अपने काममें ले सकते हैं और इसके अनुसार अपना जीवन बनाकर अपना उद्धार कर सकते हैं। इस श्लोकमें मुख्यरूपसे चार बातें बतायी गयी हैं—युक्त आहार-विहार, युक्त कर्म, युक्त सोना और युक्त जागना। इन चार बातोंको साधक काममें कैसे लाये? इसपर विचार करना है।

हमारे पास चौबीस घंटे हैं और हमारे सामने चार काम हैं। चौबीस घंटोंको चारका भाग देनेसे प्रत्येक कामके लिये छः-छः घंटे मिल जाते हैं; जैसे—(१) आहार-विहार अर्थात् भोजन करना और घूमना-फिरना इन शारीरिक आवश्यक कार्योंके लिये छः घंटे। (२) कर्म अर्थात् खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी कार्योंके लिये छः घंटे। (३) सोनेके लिये छः घंटे और (४) जागने अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये जप, ध्यान, साधन-भजन, कथा-कीर्तन आदिके लिये छः घंटे।

इन चार बातोंके भी दो-दो बातोंके दो विभाग हैं—एक विभाग 'उपार्जन' अर्थात् कमानेका है और दूसरा विभाग 'व्यय' अर्थात् खर्चका है। युक्त कर्म और युक्त जगना—ये दो बातें उपार्जनकी हैं। युक्त आहार-विहार और युक्त सोना—ये दो बातें व्ययकी हैं। उपार्जन और व्यय—इन दो विभागोंके लिये हमारे पास दो प्रकारकी

### मनुष्यके पास पूँजी



पूँजी है—(१) सांसारिक धन-धान्य और (२) आयु।

पहली पूँजी—धन-धान्यपर विचार किया जाय तो उपार्जन अधिक करना तो चल जायगा, पर उपार्जनकी अपेक्षा अधिक खर्चा करनेसे काम नहीं चलेगा। इसलिये आहार-विहारमें छः घंटे न लगाकर चार घंटेसे ही काम चला ले और खेती, व्यापार आदिमें आठ घंटे लगा दे। तात्पर्य है कि आहार-विहारका समय कम करके जीविका-सम्बन्धी कार्योंमें अधिक समय लगा दे।

दूसरी पूँजी—आयुपर विचार किया जाय तो सोनेमें आयु व्यर्थ खर्च होती है। अतः सोनेमें छः घंटे न लगाकर चार घंटेसे ही काम चला ले और भजन-ध्यान आदिमें आठ घंटे लगा दे। तात्पर्य है कि जितना कम सोनेसे काम चल जाय, उतना चला ले और नींदका बचा हुआ समय भगवान्के भजन-ध्यान आदिमें लगा दे। इस उपार्जन-(साधन-भजन-)

की मात्रा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहनी चाहिये; क्योंकि हम यहाँ सांसारिक धन-वैभव आदि कमानेके लिये नहीं आये हैं, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये ही आये हैं। इसलिये दूसरे समयमेंसे जितना समय निकाल सकें, उतना समय निकालकर अधिक-से-अधिक भजन-ध्यान करना चाहिये।

दूसरी बात, जीविका-सम्बन्धी कर्म करते समय भी भगवान्को याद रखे और सोते समय भी भगवान्को याद रखे। सोते समय यह समझे कि अबतक चलते-फिरते, बैठकर भजन किया है, अब लेटकर भजन करना है। लेटकर भजन करते-करते नींद आ जाय तो आ जाय, पर नींदके लिये नींद नहीं लेनी है। इस प्रकार लेटकर भगवत्स्मरण करनेका समय पूरा हो गया, तो फिर उठकर भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय करे और भगवत्स्मरण करते हुए ही काम-धंधेमें लग जाय, तो सब-का-सब काम-धंधा भजन हो जायगा।

**परिशिष्ट भाव**—सोलहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक ध्यानयोगीके लिये तो उपयोगी हैं ही, अन्य योगियों (साधकों) के लिये भी बड़े उपयोगी हैं।

*सम्बन्ध*—पीछेके दो श्लोकोंमें ध्यानयोगके लिये अन्वय-व्यतिरेक-रीतिसे खास नियम बता दिये। अब ऐसे नियमोंका पालन करते हुए स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधककी क्या स्थिति होती है, यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।**

**निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥**

विनियतम्	= वशमें किया हुआ	अवतिष्ठते	= स्थित हो	(हो जाता है),
चित्तम्	= चित्त		जाता है (और)	तदा
यदा	= जिस कालमें	सर्वकामेभ्यः	= (स्वयं) सम्पूर्ण	युक्तः
आत्मनि	= अपने स्वरूपमें		पदार्थोंसे	इति
एव	= ही	निःस्पृहः	= निःस्पृह	उच्यते
				= कहा जाता है।

*व्याख्या*—[इस अध्यायके दसवेंसे तेरहवें श्लोकतक सभी ध्यानयोगी साधकोंके लिये बिछाने और बैठनेवाले आसनोकी विधि बतायी। चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकमें सगुण-साकारके ध्यानका फलसहित वर्णन किया। फिर सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें सभी साधकोंके लिये उपयोगी

नियम बताये। अब इस (अठारहवें) श्लोकसे लेकर तेईसवें श्लोकतक स्वरूपके ध्यानका फलसहित वर्णन करते हैं।]

**‘यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते’**—अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त\* अर्थात् संसारके चिन्तनसे

\* (क) चित्तकी पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें ‘मूढ़’ और ‘क्षिप्त’ वृत्तिवाला पुरुष योगका अधिकारी होता ही नहीं। चित्त कभी स्वरूपमें लगता है और कभी नहीं लगता—ऐसा ‘विक्षिप्त’ वृत्तिवाला पुरुष योगका अधिकारी होता है। जब चित्तवृत्ति ‘एकाग्र’ हो जाती है, तब सविकल्प समाधि होती है। एकाग्रवृत्तिके बाद जब चित्तकी ‘निरुद्ध’ अवस्था होती है, तब निर्विकल्प समाधि होती है। इस निर्विकल्प समाधिको ही ‘योग’ कहा गया है।

यहाँ भगवान्ने ‘विनियतं चित्तम्’ पदोंसे एकाग्रवृत्ति अर्थात् सविकल्प समाधिका संकेत किया है।

(ख) इसी अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें जिसको ‘नियतमानसः’ कहा गया है, उसकी अवस्थाका वर्णन यहाँ किया गया है।

रहित चित्त जब अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है। तात्पर्य है कि जब यह सब कुछ नहीं था, तब भी जो था और सब कुछ नहीं रहेगा, तब भी जो रहेगा तथा सबके उत्पन्न होनेके पहले भी जो था, सबका लय होनेके बाद भी जो रहेगा और अभी भी जो ज्यों-का-त्यों है, उस अपने स्वरूपमें चित्त स्थित हो जाता है। अपने स्वरूपमें जो रस है, आनन्द है, वह इस मनको कहीं भी और कभी भी नहीं मिला है। अतः वह रस, आनन्द मिलते ही मन उसमें तल्लीन हो जाता है।

‘निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा’— और जब वह प्राप्त-अप्राप्त, दृष्ट-अदृष्ट, ऐहलौकिक-पारलौकिक, श्रुत-अश्रुत सम्पूर्ण पदार्थोंसे, भोगोंसे निःस्पृह हो जाता है अर्थात् उसको किसी भी पदार्थकी, भोगकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह नहीं रहती, उस समय वह ‘योगी’ कहा जाता है।

यहाँ ‘यदा’ और ‘तदा’ पद देनेका तात्पर्य है कि वह इतने दिनोंमें, इतने महीनोंमें, इतने वर्षोंमें योगी होगा—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत जिस क्षण वशमें किया हुआ चित्त स्वरूपमें स्थित हो जायगा और सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जायगा, उसी क्षण वह योगी हो जायगा।

### विशेष बात

इस श्लोकमें दो खास बातें बतायी हैं—एक तो चित्त स्वरूपमें स्थित हो जाय और दूसरी, सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाय। तात्पर्य है कि स्वरूपमें लगते-लगते जब मन स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है, तो फिर मनमें किसी

वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका चिन्तन नहीं होता, प्रत्युत मन स्वरूपमें ही तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार स्वरूपमें ही मन लगा रहनेसे ध्यानयोगी वासना, कामना, आशा, तृष्णा आदिसे सर्वथा रहित हो जाता है। इतना ही नहीं, वह जीवन-निर्वाहके लिये उपयोगी पदार्थोंकी आवश्यकतासे भी निःस्पृह हो जाता है। उसके मनमें किसी भी वस्तु आदिकी किञ्चिन्मात्र भी स्पृहा नहीं रहती, तब वह असली योगी होता है।

इसी अवस्थाका संकेत पहले चौथे श्लोकमें कर्मयोगीके लिये किया गया है कि ‘जिस कालमें इन्द्रियोंके अर्थों- (भोगों-) में और क्रियाओंमें आसक्ति नहीं रहती तथा सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग कर देता है, तब वह योगारूढ़ कहा जाता है (छठे अध्यायका चौथा श्लोक)। वहाँके और यहाँके प्रसंगमें अन्तर इतना ही है कि वहाँ कर्मयोगी दूसरोंकी सेवाके लिये ही कर्म करता है तो उसका क्रियाओं और पदार्थोंसे सर्वथा राग हट जाता है, तब वह योगारूढ़ हो जाता है और यहाँ ध्यानयोगी चित्तको स्वरूपमें लगाता है तो उसका चित्त केवल स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है, तब वह क्रियाओं और पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगीकी कामनाएँ पहले मिटती हैं, तब वह योगारूढ़ होता है और ध्यानयोगीका चित्त पहले अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसकी कामनाएँ मिटती हैं। कर्मयोगीका मन संसारकी सेवामें लग जाता है और स्वयं स्वरूपमें स्थित हो जाता है; और ध्यानयोगी स्वयं मनके साथ स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

सम्बन्ध—स्वरूपमें स्थिर हुए चित्तकी क्या स्थिति होती है—इसको आगेके श्लोकमें दीपकके दृष्टान्तसे स्पष्ट बताते हैं।

**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।**

**योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥**

यथा	= जैसे	जाती है,	योगिनः	= योगीके	
निवातस्थः	= स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित	योगम्	= योगका	आत्मनः	= चित्तकी
दीपः	= दीपककी लौ	युञ्जतः	= अभ्यास करते हुए	सा	= वैसी ही
न, इङ्गते	= चेष्टारहित हो	यतचित्तस्य	= वशमें किये हुए	उपमा	= उपमा
		चित्तवाले		स्मृता	= कही गयी है।

व्याख्या—‘यथा दीपो निवातस्थो.....युञ्जतो योगमात्मनः’—जैसे सर्वथा स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें रखे हुए दीपककी लौ थोड़ी भी हिलती-डुलती नहीं है, ऐसे ही जो योगका अभ्यास करता है, जिसका मन स्वरूपके

चिन्तनमें लगता है और जिसने चित्तको अपने वशमें कर रखा है, उस ध्यानयोगीके चित्तके लिये भी दीपककी लौकी उपमा दी गयी है। तात्पर्य है कि उस योगीका चित्त स्वरूपमें ऐसा लगा हुआ है कि उसमें एक स्वरूपके सिवाय दूसरा



कुछ भी चिन्तन नहीं होता।

पूर्वश्लोकमें जिस योगीके चित्तको विनियत कहा गया है, उस वशीभूत किये हुए चित्तवाले योगीके लिये यहाँ 'यतचित्तस्य' पद आया है।

कोई भी स्थान वायुसे सर्वथा रहित नहीं होता। वायु सर्वत्र रहती है। कहींपर वायु स्पन्दनरूपसे रहती है और कहींपर निःस्पन्दनरूपसे रहती है। इसलिये यहाँ 'निवातस्थः' पद वायुके अभावका वाचक नहीं है, प्रत्युत स्पन्दित वायुके अभावका वाचक है।

यहाँ उपमेय चित्तको पर्वत आदि स्थिर, अचल पदार्थोंकी उपमा न देकर दीपककी लौकी ही उपमा क्यों दी गयी? दीपककी लौ तो स्पन्दित वायुसे हिल भी सकती है, पर पर्वत कभी हिलता ही नहीं। अतः पर्वतकी ही उपमा देनी चाहिये थी? इसका उत्तर यह है कि पर्वत स्वभावसे ही स्थिर, अचल

और प्रकाशहीन है, जब कि दीपककी लौ स्वभावसे चंचल और प्रकाशमान है। चंचल वस्तुको स्थिर रखनेमें विशेष कठिनता पड़ती है। चित्त भी दीपककी लौके समान स्वभावसे ही चंचल है, इसलिये चित्तको दीपककी लौकी उपमा दी गयी है।

दूसरी बात, जैसे दीपककी लौ प्रकाशमान होती है, ऐसे ही योगीके चित्तकी परमात्मतत्त्वमें जागृति रहती है। यह जागृति सुषुप्तिसे विलक्षण है। यद्यपि सुषुप्ति और समाधि—इन दोनोंमें संसारकी निवृत्ति समान रहती है, तथापि सुषुप्तिमें चित्तवृत्ति अविद्यामें लीन हो जाती है। अतः उस अवस्थामें स्वरूपका भान नहीं होता। परन्तु समाधिमें चित्तवृत्ति जाग्रत् रहती है अर्थात् चित्तमें स्वरूपकी जागृति रहती है। इसीलिये यहाँ दीपककी लौका दृष्टान्त दिया गया है। इसी बातको चौथे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ज्ञानदीपिते' पदसे कहा है।

सम्बन्ध—जिस अवस्थामें पूर्णता प्राप्त होती है, उस अवस्थाका आगेके श्लोकमें स्पष्ट वर्णन करते हैं।

## यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगसेवया	= योगका सेवन करनेसे	उपरमते	= उपराम हो जाता है	आत्मानम्	= अपने-आपको
यत्र	= जिस अवस्थामें	च	= तथा	पश्यन्	= देखता हुआ
निरुद्धम्	= निरुद्ध	यत्र	= जिस अवस्थामें (स्वयं)	आत्मनि	= अपने-आपमें
चित्तम्	= चित्त	आत्मना	= अपने-आपसे	एव	= ही
				तुष्यति	= सन्तुष्ट हो जाता है।

व्याख्या—'यत्रोपरमते चित्तं ..... पश्यन्नात्मनि तुष्यति'—ध्यानयोगमें पहले 'मनको केवल स्वरूपमें ही लगाना है' यह धारणा होती है। ऐसी धारणा होनेके बाद स्वरूपके सिवाय दूसरी कोई वृत्ति पैदा हो भी जाय, तो उसकी उपेक्षा करके उसे हटा देने और चित्तको केवल स्वरूपमें ही लगानेसे जब मनका प्रवाह केवल स्वरूपमें ही लग जाता है, तब उसको ध्यान कहते हैं। ध्यानके समय ध्याता, ध्यान और ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है अर्थात् साधक ध्यानके समय अपनेको ध्याता (ध्यान करनेवाला) मानता है, स्वरूपमें तद्रूप होनेवाली वृत्तिको ध्यान मानता है और साध्यरूप स्वरूपको ध्येय मानता है। तात्पर्य है कि जबतक इन तीनोंका अलग-अलग ज्ञान रहता है, तबतक वह 'ध्यान' कहलाता है। ध्यानमें ध्येयकी मुख्यता होनेके कारण साधक पहले अपनेमें ध्यातापना भूल जाता है। फिर ध्यानकी वृत्ति भी भूल जाता है। अन्तमें केवल ध्येय ही

जाग्रत् रहता है। इसको 'समाधि' कहते हैं। यह 'संप्रज्ञात-समाधि' है, जो चित्तकी एकाग्र अवस्थामें होती है। इस समाधिके दीर्घकालके अभ्याससे फिर 'असंप्रज्ञात-समाधि' होती है। इन दोनों समाधियोंमें भेद यह है कि जबतक ध्येय, ध्येयका नाम और नाम-नामीका सम्बन्ध—ये तीनों चीजें रहती हैं, तबतक वह 'संप्रज्ञात-समाधि' होती है। इसीको चित्तकी 'एकाग्र' अवस्था कहते हैं। परन्तु जब नामकी स्मृति न रहकर केवल नामी (ध्येय) रह जाता है, तब वह 'असंप्रज्ञात-समाधि' होती है। इसीको चित्तकी 'निरुद्ध' अवस्था कहते हैं।

निरुद्ध अवस्थाकी समाधि दो तरहकी होती है—सबीज और निर्बीज। जिसमें संसारकी सूक्ष्म वासना रहती है, वह 'सबीज समाधि' कहलाती है। सूक्ष्म वासनाके कारण सबीज समाधिमें सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ये सिद्धियाँ सांसारिक दृष्टिसे तो ऐश्वर्य हैं, पर पारमार्थिक

दृष्टिसे (चेतन-तत्त्वकी प्राप्तिमें) विघ्न हैं। ध्यानयोगी जब इन सिद्धियोंको निस्तत्त्व समझकर इनसे उपराम हो जाता है, तब उसकी 'निर्बीज समाधि' होती है, जिसका यहाँ (इस श्लोकमें) 'निरुद्धम्' पदसे संकेत किया गया है।

ध्यानमें संसारके सम्बन्धसे विमुख होनेपर एक शान्ति, एक सुख मिलता है, जो कि संसारका सम्बन्ध रहनेपर कभी नहीं मिलता। संप्रज्ञात-समाधिमें उससे भी विलक्षण सुखका अनुभव होता है। इस संप्रज्ञात-समाधिसे भी असंप्रज्ञात-समाधिमें विलक्षण सुख होता है। जब साधक निर्बीज समाधिमें पहुँचता है, तब उसमें बहुत ही विलक्षण सुख, आनन्द होता है। योगका अभ्यास करते-करते चित्त निरुद्ध-अवस्था—निर्बीज समाधिसे भी उपराम हो जाता है अर्थात् योगी उस निर्बीज समाधिका भी सुख नहीं लेता, उसके सुखका भोक्ता नहीं बनता। उस समय वह अपने स्वरूपमें अपने-आपका अनुभव करता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है।

'उपरमते' पदका तात्पर्य है कि चित्तका संसारसे तो प्रयोजन रहा नहीं और स्वरूपको पकड़ सकता नहीं। कारण कि चित्त प्रकृतिका कार्य होनेसे जड़ है और स्वरूप चेतन है। जड़ चित्त चेतन स्वरूपको कैसे पकड़ सकता है? नहीं पकड़ सकता। इसलिये वह उपराम हो जाता है। चित्तके उपराम होनेपर योगीका चित्तसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

'तुष्यति' कहनेका तात्पर्य है कि उसके सन्तोषका दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं रहता। केवल अपना स्वरूप ही उसके सन्तोषका कारण रहता है।

इस श्लोकका सार यह है कि अपने द्वारा अपनेमें ही

अपने स्वरूपकी अनुभूति होती है। वह तत्त्व अपने भीतर ज्यों-का-त्यों है। केवल संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण चित्तकी वृत्तियाँ संसारमें लगती हैं, जिससे उस तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती। जब ध्यानयोगके द्वारा चित्त संसारसे उपराम हो जाता है, तब योगीका चित्तसे तथा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही उसको अपने-आपमें ही अपने स्वरूपकी अनुभूति हो जाती है।

### विशेष बात

जिस तत्त्वकी प्राप्ति ध्यानयोगसे होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्मयोगसे होती है। परन्तु इन दोनों साधनोंमें थोड़ा अन्तर है। ध्यानयोगमें जब साधकका चित्त समाधिके सुखसे भी उपराम हो जाता है, तब वह अपने-आपसे अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है। कर्मयोगमें जब साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देता है, तब वह अपने-आपसे अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक)।

ध्यानयोगमें अपने स्वरूपमें मन लगनेसे जब मन स्वरूपमें तदाकार हो जाता है, तब समाधि लगती है। उस समाधिसे भी जब मन उपराम हो जाता है, तब योगीका चित्तसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।

कर्मयोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि पदार्थोंका और सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह केवल दूसरोंके हितकी तरफ हो जाता है, तब मनोगत सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती हैं। कामनाओंका त्याग होते ही मनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।

**परिशिष्ट भाव**—मन आत्मामें नहीं लगता, प्रत्युत उपराम हो जाता है। कारण कि मनकी जाति अलग है और आत्माकी जाति अलग है। मन अपरा प्रकृति (जड़) है और आत्मा परा प्रकृति (चेतन) है। इसलिये आत्मा ही आत्मामें लगती है—'आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।'

अपने-आपमें अपने-आपको देखनेका तात्पर्य है कि आत्मतत्त्व परसंवेद्य नहीं है, प्रत्युत स्वसंवेद्य है। मनसे जो चिन्तन किया जाता है, वह मनके विषय (अनात्मा) का ही चिन्तन होता है, परमात्माका नहीं। बुद्धिसे जो निश्चय किया जाता है, वह बुद्धिके विषयका ही निश्चय होता है, परमात्माका नहीं। वाणीसे जो वर्णन किया जाता है, वह वाणीके विषयका ही वर्णन होता है, परमात्माका नहीं। तात्पर्य है कि मन-बुद्धि-वाणीसे प्रकृतिके कार्य-(अनात्मा) का ही चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन किया जाता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति मन-बुद्धि-वाणीसे सर्वथा विमुख (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर ही होती है।\*

\* यदि एक परमात्मप्राप्तिका ही ध्येय हो तो मन-बुद्धि-वाणीसे चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन करना भी अनुचित नहीं है, प्रत्युत वह भी साधनरूप हो जाता है। परन्तु साधक उसमें ही सन्तोष कर ले, पूर्णता मान ले तो वह बाधक हो जाता है।

यहाँ जिस तत्त्वकी प्राप्ति ध्यानयोगसे बतायी गयी है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें कर्मयोगसे भी बतायी गयी है। अन्तर इतना है कि ध्यानयोग तो करणसापेक्ष है, पर कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन है। करणसापेक्ष साधनमें जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद देरीसे होता है और इसमें योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि ध्यानयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तोषका अनुभव करता है। अब उसके बाद क्या होता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

## सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यत्	= जो	तत्	= उस सुखका	अयम्	= यह ध्यानयोगी
सुखम्	= सुख	यत्र	= जिस अवस्थामें	तत्त्वतः	= तत्त्वसे
आत्यन्तिकम्	= आत्यन्तिक,	वेत्ति	= अनुभव करता है	एव	= फिर (कभी)
अतीन्द्रियम्	= अतीन्द्रिय (और)	च	= और (जिस सुखमें)	न, चलति	= विचलित नहीं
बुद्धिग्राह्यम्	= बुद्धिग्राह्य है,	स्थितः	= स्थित हुआ		होता।

व्याख्या—‘सुखमात्यन्तिकं यत्’—ध्यानयोगी अपने द्वारा अपने-आपमें जिस सुखका अनुभव करता है, प्राकृत संसारमें उस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख हो ही नहीं सकता और होना सम्भव ही नहीं है। कारण कि यह सुख तीनों गुणोंसे अतीत और स्वतःसिद्ध है। यह सम्पूर्ण सुखोंकी आखिरी हद है—‘सा काष्ठा सा परा गतिः’। इसी सुखको अक्षय सुख (पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), अत्यन्त सुख (छठे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक) और ऐकान्तिक सुख (चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक) कहा गया है।

इस सुखको यहाँ ‘आत्यन्तिक’ कहनेका तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक सुखसे विलक्षण है। कारण कि सात्त्विक सुख तो परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक); परन्तु यह आत्यन्तिक सुख उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत यह स्वतःसिद्ध अनुत्पन्न सुख है।

‘अतीन्द्रियम्’—इस सुखको इन्द्रियोंसे अतीत बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख राजस सुखसे विलक्षण है। राजस सुख सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदिके सम्बन्धसे पैदा होता है और इन्द्रियोंद्वारा भोगा जाता है। वस्तु, व्यक्ति आदिका प्राप्त होना हमारे हाथकी बात नहीं है और प्राप्त होनेपर उस सुखका भोग उस विषय (वस्तु, व्यक्ति आदि) के ही अधीन होता है। अतः राजस सुखमें पराधीनता है। परन्तु आत्यन्तिक सुखमें पराधीनता नहीं है। कारण कि आत्यन्तिक सुख इन्द्रियोंका विषय नहीं है।

इन्द्रियोंकी तो बात ही क्या है, वहाँ मनकी भी पहुँच नहीं है। यह सुख तो स्वयंके द्वारा ही अनुभवमें आता है। अतः इस सुखको अतीन्द्रिय कहा है।

‘बुद्धिग्राह्यम्’—इस सुखको बुद्धिग्राह्य बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख तामस सुखसे विलक्षण है। तामस सुख निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है। गाढ़ निद्रा- (सुषुप्ति) में सुख तो मिलता है, पर उसमें बुद्धि लीन हो जाती है। आलस्य और प्रमादमें भी सुख होता है, पर उसमें बुद्धि ठीक-ठीक जाग्रत् नहीं रहती तथा विवेकशक्ति भी लुप्त हो जाती है। परन्तु इस आत्यन्तिक सुखमें बुद्धि लीन नहीं होती और विवेकशक्ति भी ठीक जाग्रत् रहती है। पर इस आत्यन्तिक सुखको बुद्धि पकड़ नहीं सकती; क्योंकि प्रकृतिका कार्य बुद्धि प्रकृतिसे अतीत स्वरूपभूत सुखको पकड़ ही कैसे सकती है?

यहाँ सुखको आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे विलक्षण अर्थात् गुणातीत स्वरूपभूत है।

‘वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः’—ध्यानयोगी अपने द्वारा ही अपने-आपके सुखका अनुभव करता है और इस सुखमें स्थित हुआ वह कभी किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं होता अर्थात् इस सुखकी अखण्डता निरन्तर स्वतः बनी रहती है। जैसे, मुसलमानोंने धोखेसे शिवाजीके पुत्र संभाजीको कैद कर लिया और उनसे मुस्लिम-धर्म स्वीकार करनेके लिये कहा। परन्तु जब संभाजीने उसको स्वीकार नहीं किया, तब मुसलमानोंने

उनकी आँखें निकाल लीं, उनकी चमड़ी खींच ली, तो भी वे अपने हिन्दूधर्मसे किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। तात्पर्य यह निकला कि मनुष्य जबतक अपनी मान्यताको स्वयं नहीं छोड़ता, तबतक उसको दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता। जब अपनी मान्यताको भी कोई छुड़ा नहीं सकता, तो फिर जिसको वास्तविक सुख प्राप्त हो गया है, उस सुखको कोई कैसे छुड़ा सकता है और वह स्वयं भी उस सुखसे कैसे विचलित हो सकता है? नहीं हो सकता।

मनुष्य उस वास्तविक सुखसे, ज्ञानसे, आनन्दसे कभी

चलायमान नहीं होता—इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य सात्त्विक सुखसे भी चलायमान होता है; उसका समाधिसे भी व्युत्थान होता है। परन्तु आत्यन्तिक सुखसे अर्थात् तत्त्वसे वह कभी विचलित और व्युत्थित नहीं होता; क्योंकि उसमें उसकी दूरी, भेद, भिन्नता मिट गयी और अब केवल वह-ही-वह रह गया। अब वह विचलित और व्युत्थित कैसे हो? विचलित और व्युत्थित तभी होता है, जब जडताका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है। जबतक जडताका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह एकरस नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति सदा ही क्रियाशील रहती है।

**परिशिष्ट भाव**—स्वरूपका अनुभव होनेपर ध्यानयोगीको उस अविनाशी, अखण्ड सुखकी अनुभूति हो जाती है, जो 'आत्यन्तिक' अर्थात् सात्त्विक सुखसे विलक्षण, 'अतीन्द्रिय' अर्थात् राजस सुखसे विलक्षण और 'बुद्धिग्राह्य' अर्थात् तामस सुखसे विलक्षण है।

अविनाशी सुखको 'बुद्धिग्राह्य' कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बुद्धिकी पकड़में आनेवाला है। कारण कि बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य है, फिर वह प्रकृतिसे अतीत सुखको कैसे पकड़ सकती है? इसलिये अविनाशी सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका तात्पर्य उस सुखको तामस सुखसे विलक्षण बतानेमें ही है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक)। गाढ़ निद्रा- (सुषुप्ति) में बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है और आलस्य तथा प्रमादमें बुद्धि पूरी तरह जाग्रत् नहीं रहती। परन्तु स्वतःसिद्ध अविनाशी सुखमें बुद्धि अविद्यामें लीन नहीं होती, प्रत्युत पूरी तरह जाग्रत् रहती है—'ज्ञानदीपिते' (गीता ४। २७)। अतः बुद्धिकी जागृतिकी दृष्टिसे ही उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है। वास्तवमें बुद्धि वहाँतक पहुँचती ही नहीं।

जैसे दर्पणमें सूर्य नहीं आता, प्रत्युत सूर्यका बिम्ब आता है, ऐसे ही बुद्धिमें वह अविनाशी सुख नहीं आता, प्रत्युत उस सुखका बिम्ब आभास आता है, इसलिये भी उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है।

तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंका अखण्ड सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे भी अत्यन्त विलक्षण अर्थात् गुणातीत है। उसको बुद्धिग्राह्य कहनेपर भी वास्तवमें वह बुद्धिसे सर्वथा अतीत है।

बुद्धियुक्त (प्रकृतिसे मिला हुआ) चेतन ही बुद्धिग्राह्य है, शुद्ध चेतन नहीं। वास्तवमें स्वयं प्रकृतिसे मिल सकता ही नहीं, पर वह अपनेको मिला हुआ मान लेता है—'ययेदं धार्यते जगत्' (गीता ७। ५)।

सम्बन्ध—ध्यानयोगी तत्त्वसे चलायमान क्यों नहीं होता—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।**

**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥**

यम्	= जिस	(लाभ)	(वह)
लाभम्	= लाभकी	न, मन्यते	= (उसके) माननेमें भी नहीं आता
लब्ध्वा	= प्राप्ति होनेपर	च	= और
ततः	= उससे	यस्मिन्	= जिसमें
अधिकम्	= अधिक	स्थितः	= स्थित होनेपर
अपरम्	= कोई दूसरा	गुरुणा	= बड़े भारी
		दुःखेन	= दुःखसे
		अपि	= भी
		न, विचाल्यते	= विचलित नहीं किया जा सकता।

**व्याख्या—**‘यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः’—मनुष्यको जो सुख प्राप्त है, उससे अधिक सुख दीखता है तो वह उसके लोभमें आकर विचलित हो जाता है। जैसे, किसीको एक घंटेके सौ रुपये मिलते हैं। अगर उतने ही समयमें दूसरी जगह हजार रुपये मिलते हों, तो वह सौ रुपयोंकी स्थितिसे विचलित हो जायगा और हजार रुपयोंकी स्थितिमें चला जायगा। निद्रा, आलस्य और प्रमादका तामस सुख प्राप्त होनेपर भी जब विषयजन्य सुख ज्यादा अच्छा लगता है, उसमें अधिक सुख मालूम देता है, तब मनुष्य तामस सुखको छोड़कर विषयजन्य सुखकी तरफ लपककर चला जाता है। ऐसे ही जब वह विषयजन्य सुखसे ऊँचा उठता है, तब वह सात्त्विक सुखके लिये विचलित हो जाता है और जब सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठता है, तब वह आत्यन्तिक सुखके लिये विचलित हो जाता है। परन्तु जब आत्यन्तिक सुख प्राप्त हो जाता है, तो फिर वह उससे विचलित नहीं होता; क्योंकि आत्यन्तिक सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख, कोई लाभ ही नहीं। आत्यन्तिक सुखमें सुखकी हद हो जाती है। ध्यानयोगीको जब ऐसा सुख मिल जाता है, तो फिर वह इस सुखसे विचलित हो ही कैसे सकता है ?

**‘यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते’—** विचलित होनेका दूसरा कारण है कि लाभ तो अधिक होता हो, पर साथमें महान् दुःख हो, तो मनुष्य उस लाभसे विचलित हो जाता है। जैसे, हजार रुपये मिलते हों, पर साथमें प्राणोंका भी खतरा हो, तो मनुष्य हजार रुपयोंसे

विचलित हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य जिस किसी स्थितिमें स्थित होता है, वहाँ कोई भयंकर आफत आ जाती है, तो मनुष्य उस स्थितिको छोड़ देता है। परन्तु यहाँ भगवान् कहते हैं कि आत्यन्तिक सुखमें स्थित होनेपर योगी बड़े-से-बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। जैसे, किसी कारणसे उसके शरीरको फाँसी दे दी जाय, शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, आपसमें भिड़ते दो पहाड़ोंके बीचमें शरीर दबकर पिस जाय, जीते-जी शरीरकी चमड़ी उतारी जाय, शरीरमें तरह-तरहके छेद किये जायँ, उबलते हुए तेलमें शरीरको डाला जाय—इस तरहके गुरुतर, महान् भयंकर दुःखोंके एक साथ आनेपर भी वह विचलित नहीं होता।

वह विचलित क्यों नहीं किया जा सकता ? कारण कि जितने भी दुःख आते हैं, वे सभी प्रकृतिके राज्यमें अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिमें ही आते हैं, जब कि आत्यन्तिक सुख, स्वरूप-बोध प्रकृतिसे अतीत तत्त्व है। परन्तु जब पुरुष प्रकृतिस्थ हो जाता है अर्थात् शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह प्रकृतिजन्य अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें अपनेको सुखी-दुःखी मानने लग जाता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपभूत सुखका अनुभव कर लेता है, उसमें स्थित हो जाता है, तो फिर यह प्राकृतिक दुःख वहाँतक पहुँच ही नहीं सकता, उसका स्पर्श ही नहीं कर सकता। इसलिये शरीरमें कितनी ही आफत आनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं किया जा सकता।

**परिशिष्ट भाव—**यह श्लोक सभी साधनोंकी कसौटी है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी साधनसे यह कसौटी प्राप्त होनी चाहिये। अपनी स्थिति समझनेके लिये यह श्लोक साधकके लिये बहुत उपयोगी है। जीवमात्रका ध्येय यही रहता है कि मेरा दुःख मिट जाय और सुख मिल जाय। अतः इस श्लोकमें वर्णित स्थिति साधकमात्रको प्राप्त करनी चाहिये, अन्यथा उसकी साधना पूर्ण नहीं हुई। साधक बीचमें अटक न जाय, अपनी अधूरी स्थितिको ही पूर्ण न मान ले, इसके लिये उसको यह श्लोक सामने रखना चाहिये।

जिसमें लाभका तो अन्त नहीं और दुःखका लेश भी नहीं—ऐसा दुर्लभ पद मनुष्यमात्रको मिल सकता है! परन्तु वह भोग और संग्रहमें लगकर कितना अनर्थ कर लेता है, जिसका कोई पारावार नहीं!

**सम्बन्ध—**जिस सुखकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक लाभकी सम्भावना नहीं रहती और जिसमें स्थित होनेपर बड़ा भारी दुःख भी विचलित नहीं करता, ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये आगेके श्लोकमें प्रेरणा करते हैं।

**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।**

**स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥**

दुःखसंयोग- वियोगम् = जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, तम् = उसीको योगसञ्ज्ञितम् = 'योग' नामसे	विद्यात् = जानना चाहिये। सः = (वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है,) उस योगः = ध्यानयोगका	अभ्यास अनिर्विण्णचेतसा = न उकताये हुए चित्तसे निश्चयेन = निश्चयपूर्वक योक्तव्यः = करना चाहिये।
--	--	---

व्याख्या—'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'— जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव ही नहीं, ऐसे दुःखरूप संसार-शरीरके साथ सम्बन्ध मान लिया, यही 'दुःखसंयोग' है। यह दुःखसंयोग 'योग' नहीं है। अगर यह योग होता अर्थात् संसारके साथ हमारा नित्य-सम्बन्ध होता, तो इस दुःखसंयोगका कभी वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) नहीं होता। परन्तु बोध होनेपर इसका वियोग हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि दुःखसंयोग केवल हमारा माना हुआ है, हमारा बनाया हुआ है, स्वाभाविक नहीं है। इससे कितनी ही दृढ़तासे संयोग मान लें और कितने ही लम्बे कालतक संयोग मान लें, तो भी इसका कभी संयोग नहीं हो सकता। अतः हम इस माने हुए आगन्तुक दुःखसंयोगका वियोग कर सकते हैं। इस दुःखसंयोग-(शरीर-संसार-) का वियोग करते ही स्वाभाविक 'योग' की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् स्वरूपके साथ हमारा जो नित्ययोग है, उसकी हमें अनुभूति हो जाती है। स्वरूपके साथ नित्ययोगको ही यहाँ 'योग' समझना चाहिये।

यहाँ दुःखरूप संसारके सर्वथा वियोगको 'योग' कहा गया है। इससे यह असर पड़ता है कि अपने स्वरूपके साथ पहले हमारा वियोग था, अब योग हो गया। परन्तु ऐसी बात नहीं है। स्वरूपके साथ हमारा नित्ययोग है। दुःखरूप संसारके संयोगका तो आरम्भ और अन्त होता है तथा संयोगकालमें भी संयोगका आरम्भ और अन्त रहता है। परन्तु इस नित्ययोगका कभी आरम्भ और अन्त नहीं होता। कारण कि यह योग मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंसे नहीं होता, प्रत्युत इनके सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है। यह नित्ययोग स्वतःसिद्ध है। इसमें सबकी स्वाभाविक स्थिति है। परन्तु अनित्य संसारसे सम्बन्ध मानते रहनेके कारण इस नित्ययोगकी विस्मृति हो गयी है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्ययोगकी स्मृति हो जाती है। इसीको अर्जुनने अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' कहा है। अतः यह योग नया नहीं हुआ

है, प्रत्युत जो नित्ययोग है, उसीकी अनुभूति हुई है।

भगवान्ने यहाँ 'योगसञ्ज्ञितम्' पद देकर दुःखके संयोगके वियोगका नाम 'योग' बताया है और दूसरे अध्यायमें 'समत्वं योग उच्यते' कहकर समताको ही 'योग' बताया है। यहाँ साध्यरूप समताका वर्णन है और वहाँ (दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें) साधनरूप समताका वर्णन है। ये दोनों बातें तत्त्वतः एक ही हैं; क्योंकि साधनरूप समता ही अन्तमें साध्यरूप समतामें परिणत हो जाती है।

पतंजलि महाराजने चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगदर्शन १। २) और चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति बतायी है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (१। ३)। परन्तु यहाँ भगवान्ने 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्' पदोंसे द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थितिको ही 'योग' कहा है, जो स्वतःसिद्ध है।

यहाँ 'तम्' कहनेका क्या तात्पर्य है? अठारहवें श्लोकमें योगीके लक्षण बताकर उन्नीसवें श्लोकमें दीपकके दृष्टान्तसे उसके अन्तःकरणकी स्थितिका वर्णन किया गया। उस ध्यानयोगीका चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है, उसका संकेत बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'यत्र' पदसे किया और जब उस योगीकी स्थिति परमात्मामें हो जाती है, उसका संकेत श्लोकके उत्तरार्धमें 'यत्र' पदसे किया। इक्कीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'यत्' पदसे उस योगीके आत्यन्तिक सुखकी महिमा कही और उत्तरार्धमें 'यत्र' पदसे उसकी अवस्थाका संकेत किया। बाईसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'यम्' पदसे उस योगीके लाभका वर्णन किया और उत्तरार्धमें उसी लाभको 'यस्मिन्' पदसे कहा। इस तरह बीसवें श्लोकसे बाईसवें श्लोकतक छः बार 'यत्'\* शब्दका प्रयोग करके योगीकी जो विलक्षण स्थिति बतायी गयी है, उसीका यहाँ 'तम्' पदसे संकेत करके उसकी महिमा कही गयी है।

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा'— जिसमें दुःखोंके संयोगका ही अभाव है, ऐसे योग-

\* यत्र, यम्, यस्मिन्—ये तीनों 'यत्' शब्दसे ही बने हुए हैं।

(साध्यरूप समता-) का उद्देश्य रखकर साधकको न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये, जिसका इसी अध्यायके अठारहवेंसे बीसवें श्लोकतक वर्णन हुआ है।

योगका अनुभव करनेके लिये सबसे पहले साधकको अपनी बुद्धि एक निश्चयवाली बनानी चाहिये अर्थात् 'मेरेको तो योगकी ही प्राप्ति करनी है' ऐसा एक निश्चय करना चाहिये। ऐसा निश्चय करनेपर संसारका कितना ही प्रलोभन आ जाय, कितना ही भयंकर कष्ट आ जाय, तो भी उस निश्चयको नहीं छोड़ना चाहिये।

'अनिर्विण्णचेतसा' का तात्पर्य है कि समय बहुत लग गया, पुरुषार्थ बहुत किया, पर सिद्धि नहीं हुई! इसकी

सिद्धि कब होगी? कैसे होगी?—इस तरह कभी उकताये नहीं। साधकका भाव ऐसा रहे कि चाहे कितने ही वर्ष लग जायँ, कितने ही जन्म लग जायँ, कितने ही भयंकर-से-भयंकर दुःख आ जायँ, तो भी मेरेको तत्त्वको प्राप्त करना ही है। साधकके मनमें स्वतः-स्वाभाविक ऐसा विचार आना चाहिये कि मेरे अनेक जन्म हुए, पर वे सब-के-सब निरर्थक चले गये; उनसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। अनेक बार नरकोंके कष्ट भोगे, पर उनको भोगनेसे भी कुछ नहीं मिला अर्थात् केवल पूर्वके पाप नष्ट हुए, पर परमात्मा नहीं मिले। अब यदि इस जन्मका सारा-का-सारा समय, आयु और पुरुषार्थ परमात्माकी प्राप्तिमें लग जाय, तो कितनी बढ़िया बात है!

**परिशिष्ट भाव**—सांसारिक संयोगका विभाग अलग है और योगका विभाग अलग है। 'संयोग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा नहीं रह सकते और जो हमारे साथ सदा नहीं रह सकता। 'योग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा रह सकते हैं और जो हमारे साथ सदा रह सकता है। इसलिये संसारमें एक-दूसरेके साथ संयोग होता है और परमात्माके साथ योग होता है। संसारका योग नहीं है और परमात्माका वियोग नहीं है अर्थात् संसार हमें मिला हुआ नहीं है और परमात्मा हमारेसे अलग नहीं है। संसारको मिला हुआ मानना और परमात्माको अलग मानना—यही अज्ञान है, यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। संसारके संयोगका तो वियोग होता ही है, पर परमात्माके योगका कभी वियोग होता ही नहीं।

मनुष्य चाहता है संयोग, पर हो जाता है वियोग, इसलिये संसार दुःखरूप है—'दुःखालयमशाश्वतम्' (गीता ८। १५)। कुछ चाहना रहनेसे ही दुःखोंका संयोग होता है। कुछ भी चाहना न रहे तो दुःखोंका संयोग नहीं होता, प्रत्युत परमात्माके साथ योग होता है।

परमात्माके साथ जीवका योग अर्थात् सम्बन्ध नित्य है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है। वह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परन्तु असत् (शरीर) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दुःखरूप असत्के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परन्तु इन साधनोंको 'योग' तभी कहा जायगा, जब असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

योगकी परिभाषा भगवान्ने दो प्रकारसे की है—

(१) समताका नाम योग है—'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८)।

(२) दुःखरूप संसारके संयोगके वियोगका नाम योग है—'तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्' (६। २३)।

चाहे समता कह दें, चाहे संसारके संयोगका वियोग कह दें, दोनों एक ही हैं। तात्पर्य है कि समतामें स्थिति होनेपर संसारके संयोगका वियोग हो जायगा और संसारके संयोगका वियोग होनेपर समतामें स्थिति हो जायगी। दोनोंमेंसे कोई एक होनेपर नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो 'तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्' पहली स्थिति है और 'समत्वं योग उच्यते' बादकी स्थिति है, जिसमें नैष्ठिकी शान्ति, परमशान्ति अथवा आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति है।

समताकी प्राप्ति भी स्वतः हो रही है और दुःखोंकी निवृत्ति भी स्वतः हो रही है। प्राप्ति उसीकी होती है, जो नित्यप्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जो नित्यनिवृत्त है। नित्यप्राप्तकी प्राप्ति का नाम भी योग है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्तिका

नाम भी योग है। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दुःखोंके कारण अर्थात् दुःख पैदा करनेवाले हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। अतः संयोगमें ही दुःख होता है, वियोगमें नहीं। वियोग—(संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद) में जो सुख है, उस सुखका वियोग नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। जब संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है तो वियोग ही नित्य हुआ। इस नित्य वियोगको ही गीता 'योग' कहती है।

परमात्मतत्त्व 'है'—रूप और संसार 'नहीं'—रूप है। एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं' को 'नहीं'—रूपसे देखनेपर शुद्ध 'है' दीखता है! कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ वृत्तिरूप 'नहीं' भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'—रूपसे देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा; जैसे—कूड़ा-करकट दूर करनेपर उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि 'परमात्मा सबमें परिपूर्ण है'—इसका मनसे चिन्तन करनेपर, बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है'—इस प्रकार संसारको अभावरूपसे देखनेपर संसार और वृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और भावरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व स्वतः शेष रह जायगा।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने जिस योग—(साध्यरूप समता—) का वर्णन किया था, उसी योगकी प्राप्तिके लिये अब आगेके श्लोकसे निर्गुण-निराकारके ध्यानका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

## सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

सङ्कल्पप्रभवान् = संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली	अशेषतः = सर्वथा	एव = ही
सर्वान् = सम्पूर्ण	त्यक्त्वा = त्याग करके (और)	इन्द्रियग्रामम् = इन्द्रिय-समूहको
कामान् = कामनाओंका	मनसा = मनसे	समन्ततः = सभी ओरसे
		विनियम्य = हटाकर।

व्याख्या—[जो स्थिति कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीकी होती है (छठे अध्यायके पहलेसे नवें श्लोकतक), वही स्थिति सगुण-साकार भगवान्का ध्यान करनेवालेकी (छठे अध्यायका चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ श्लोक) तथा अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाले ध्यानयोगीकी भी होती है (छठे अध्यायके अठारहवेंसे तेईसवें श्लोकतक)। अब निर्गुण-निराकारका ध्यान करनेवालेकी भी वही स्थिति होती है—यह बतानेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण कहते हैं।]

'सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः'—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर मनमें जो तरह-तरहकी स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओंमेंसे जिस स्फुरणामें प्रियता, सुन्दरता और आवश्यकता दीखती है, वह स्फुरणा 'संकल्प' का रूप धारण कर लेती है। ऐसे ही जिस स्फुरणामें 'ये वस्तु, व्यक्ति आदि बड़े खराब हैं, ये हमारे उपयोगी नहीं हैं'—ऐसा विपरीत भाव पैदा हो जाता है,

वह स्फुरणा भी 'संकल्प' बन जाती है। संकल्पसे 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं चाहिये'—यह 'कामना' उत्पन्न होती है। इस प्रकार संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

यहाँ 'कामान्' पद बहुवचनमें आया है, फिर भी इसके साथ 'सर्वान्' पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी और किसी भी तरहकी कामना नहीं रहनी चाहिये।

'अशेषतः' पदका तात्पर्य है कि कामनाका बीज (सूक्ष्म संस्कार) भी नहीं रहना चाहिये। कारण कि वृक्षके एक बीजसे ही मीलोंतकका जंगल पैदा हो सकता है। अतः बीजरूप कामनाका भी त्याग होना चाहिये।

'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः'—जिन इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंका अनुभव होता है, भोग होता है, उन इन्द्रियोंके समूहका मनके द्वारा अच्छी तरहसे नियमन कर ले अर्थात् मनसे इन्द्रियोंको उनके अपने-अपने विषयोंसे हटा ले।



‘समन्ततः’ कहनेका तात्पर्य है कि मनसे शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका चिन्तन न हो और सांसारिक मान, बड़ाई, आराम आदिकी तरफ किंचिन्मात्र भी खिंचाव न हो।

तात्पर्य है कि ध्यानयोगीको इन्द्रियों और अन्तःकरणके द्वारा प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदका निश्चय कर लेना चाहिये।

**परिशिष्ट भाव**—पहले स्फुरणा होती है, फिर संकल्प होता है। स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह संकल्प हो जाता है, जो बन्धनकारक होता है। संकल्पसे फिर कामना उत्पन्न होती है। ‘स्फुरणा’ दर्पणके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा नहीं जाता। परन्तु ‘संकल्प’ कैमरेके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा जाता है। साधकको सावधानी रखनी चाहिये कि स्फुरणा तो हो, पर संकल्प न हो।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग एवं इन्द्रियोंका निग्रह करनेके निश्चयकी बात कही। अब कामनाओंका त्याग और इन्द्रियोंका निग्रह कैसे करें—इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

## शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

धृतिगृहीतया	= धैर्ययुक्त	(और)	कृत्वा	= करके (फिर)	
बुद्ध्या	= बुद्धिके द्वारा (संसारसे)	मनः	= मन (बुद्धि)को	किञ्चित्	= कुछ
शनैः, शनैः	= धीरे-धीरे	आत्मसंस्थम्	= परमात्मस्वरूपमें	अपि	= भी
उपरमेत्	= उपराम हो जाय		सम्यक् प्रकारसे	न, चिन्तयेत्	= चिन्तन न करे।
			स्थापन		

**व्याख्या**—‘बुद्ध्या धृतिगृहीतया’—साधन करते-करते प्रायः साधकोंको उकताहट होती है, निराशा होती है कि ध्यान लगाते, विचार करते इतने दिन हो गये, पर तत्त्व-प्राप्ति नहीं हुई, तो अब क्या होगी? कैसे होगी? इस बातको लेकर भगवान् ध्यानयोगके साधकको सावधान करते हैं कि उसको ध्यानयोगका अभ्यास करते हुए सिद्धि प्राप्त न हो, तो भी उकताना नहीं चाहिये, प्रत्युत धैर्य रखना चाहिये। जैसे सिद्धि प्राप्त होनेपर, सफलता होनेपर धैर्य रहता है, विफलता होनेपर भी वैसा ही धैर्य रहना चाहिये कि वर्ष-के-वर्ष बीत जायँ, शरीर चला जाय, तो भी परवाह नहीं, पर तत्त्वको तो प्राप्त करना ही है\*। कारण कि इससे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा काम है नहीं। इसलिये इसको समाप्त करके आगे क्या काम करना है? यदि इससे भी बढ़कर कोई काम है तो इसको छोड़ो और उस कामको अभी करो!—इस प्रकार बुद्धिको वशमें कर ले अर्थात् बुद्धिमें मान, बड़ाई, आराम आदिको लेकर जो संसारका महत्त्व पड़ा है, उस महत्त्वको हटा दे। तात्पर्य

है कि पूर्वश्लोकमें जिन विषयोंका त्याग करनेके लिये कहा गया है, धैर्ययुक्त बुद्धिसे उन विषयोंसे उपराम हो जाय।

‘शनैः शनैरुपरमेत्’—उपराम होनेमें जल्दबाजी न करे; किन्तु धीरे-धीरे उपेक्षा करते-करते विषयोंसे उदासीन हो जाय और उदासीन होनेपर उनसे बिलकुल ही उपराम हो जाय।

कामनाओंका त्याग और मनसे इन्द्रिय-समूहका संयमन करनेके बाद भी यहाँ जो उपराम होनेकी बात बतायी है, उसका तात्पर्य है कि किसी त्याज्य वस्तुका त्याग करनेपर भी उस त्याज्य वस्तुके साथ आंशिक द्वेषका भाव रह सकता है। उस द्वेष-भावको हटानेके लिये यहाँ उपराम होनेकी बात कही गयी है। तात्पर्य है कि संकल्पोंके साथ न राग करे, न द्वेष करे; किन्तु उनसे सर्वथा उपराम हो जाय।

यहाँ उपराम होनेकी बात इसलिये कही गयी है कि परमात्मतत्त्व मनके कब्जेमें नहीं आता; क्योंकि मन प्रकृतिका कार्य होनेसे जब प्रकृतिको भी नहीं पकड़ सकता, तो फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको पकड़ ही कैसे

\* इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु । अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति ॥  
‘भले ही इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय, चमड़ी, मांस और हड्डियाँतक नष्ट हो जायँ; किन्तु बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना इस आसनसे यह शरीर हिलेगा नहीं।’

सकता है? अर्थात् परमात्माका चिन्तन करते-करते मन परमात्माको पकड़ ले—यह उसके हाथकी बात नहीं है। जिस परमात्माकी शक्तिसे मन अपना कार्य करता है, उसको मन कैसे पकड़ सकता है?—‘यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्’ (केन० १।५)। जैसे, जिस सूर्यके प्रकाशसे दीपक, बिजली आदि प्रकाशित होते हैं, वे दीपक आदि सूर्यको कैसे प्रकाशित कर सकते हैं? कारण कि उनमें प्रकाश तो सूर्यसे ही आता है। ऐसे ही मन, बुद्धि आदिमें जो कुछ शक्ति है, वह उस परमात्मासे ही आती है। अतः वे मन, बुद्धि आदि उस परमात्माको कैसे पकड़ सकते हैं? नहीं पकड़ सकते।

दूसरी बात, संसारकी तरफ चलनेसे सुख नहीं पाया है, केवल दुःख-ही-दुःख पाया है। अतः संसारके चिन्तनसे प्रयोजन नहीं रहा। तो अब क्या करें? उससे उपराम हो जायँ।

‘आत्मसंस्थं मनः\* कृत्वा’—सब जगह एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही परिपूर्ण है। संकल्पोंमें पहले और पीछे (अन्तमें) वही परमात्मा है। संकल्पोंमें भी आधार और प्रकाशकरूपसे एक परमात्मा ही परिपूर्ण है। उन संकल्पोंमें और कोई सत्ता पैदा नहीं हुई है; किन्तु उनमें सत्तारूपसे वह परमात्मा ही है। ऐसा बुद्धिका दृढ़ निश्चय, निर्णय रहे। मनमें कोई तरंग पैदा हो भी जाय तो उस तरंगको परमात्माका ही स्वरूप माने।

दूसरा भाव यह है कि परमात्मा देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सबमें परिपूर्ण है। ये देश, काल आदि तो उत्पन्न होते हैं और मिटते हैं; परन्तु परमात्मतत्त्व बनता-बिगड़ता नहीं है। वह तो सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उस परमात्मामें मनको स्थिर करके अर्थात् सब जगह एक परमात्मा ही है, उस परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं— ऐसा पक्का निश्चय करके कुछ भी चिन्तन न करे।

‘न किञ्चिदपि चिन्तयेत्’—संसारका चिन्तन न करे—यह बात तो पहले ही आ गयी। अब ‘परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है’ ऐसा चिन्तन भी न करे। कारण कि जब मनको परमात्मामें स्थापन कर दिया, तो अब चिन्तन करनेसे सविकल्प वृत्ति हो जायगी अर्थात् मनके साथ सम्बन्ध बना रहेगा, जिससे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं

होगा। अगर ‘हमारी ऐसी स्थिति बनी रहे’—ऐसा चिन्तन करेंगे, तो परिच्छिन्नता बनी रहेगी अर्थात् चित्तकी और चिन्तन करनेवालेकी सत्ता बनी रहेगी। अतः ‘सब जगह एक परमात्मा ही परिपूर्ण है’—ऐसा दृढ़ निश्चय करनेके बाद किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी चिन्तन न करे। इस प्रकार उपराम होनेसे स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जायगा, जिसका वर्णन पहले बाईसवें श्लोकमें हुआ है।

### ध्यान-सम्बन्धी मार्मिक बात

सबसे मुख्य बात यह है कि परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें और सम्पूर्ण क्रियाओंमें परमात्मा साकार, निराकार आदि सब रूपोंसे सदा ज्यों-का-त्यों विराजमान है। उस परमात्माके सिवाय जितना भी प्रकृतिका कार्य है, वह सब-का-सब परिवर्तनशील है। परन्तु परमात्मतत्त्वमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ, न होगा और न हो ही सकता है। उस परमात्माका ध्यान ऐसे किया जाय कि जैसे कोई मनुष्य समुद्रमें गहरा उतर जाय, तो जहाँतक दृष्टि जाती है, वहाँतक जल-ही-जल दीखता है। नीचे देखो तो भी जल है, ऊपर देखो तो भी जल है, चारों तरफ जल-ही-जल परिपूर्ण है। इस तरह जहाँ स्वयं अपने-आपको एक जगह मानता है, उसके भीतर भी परमात्मा है, बाहर भी परमात्मा है, ऊपर भी परमात्मा है, नीचे भी परमात्मा है, चारों तरफ परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। शरीरके भी कण-कणमें वह परमात्मा है। उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना ही मनुष्यमात्रका ध्येय है और वह नित्य-निरन्तर प्राप्त है। उस परमात्मतत्त्वसे कोई कभी दूर हो सकता ही नहीं। किसी भी अवस्थामें उससे कोई अलग नहीं हो सकता। केवल अपनी दृष्टि विनाशी पदार्थोंकी तरफ रहनेसे वह सदा परिपूर्ण, निर्विकार, सम, शान्त रहनेवाला परमात्मतत्त्व दीखता नहीं।

अगर उस परमात्माकी तरफ दृष्टि, लक्ष्य हो जाय कि वह सब जगह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है, तो स्वतः ध्यान हो जायगा, ध्यान करना नहीं पड़ेगा। जैसे, हम सब पृथ्वीपर रहते हैं, तो हमारे भीतर-बाहर, ऊपर और चारों तरफ आकाश-ही-आकाश है, पोलाहट-ही-पोलाहट है; परन्तु

\* यहाँ ‘मनः’ शब्द अन्तःकरणका वाचक है।

उसकी तरफ हमारा लक्ष्य नहीं रहता। अगर लक्ष्य हो जाय, तो हम निरन्तर आकाशमें ही रहते हैं। आकाशमें ही चलते हैं, फिरते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं, जगते हैं। आकाशमें ही हम सब काम कर रहे हैं। परन्तु आकाशकी तरफ ध्यान न होनेसे इसका पता नहीं लगता। अगर उस तरफ ध्यान जाय कि आकाश है, उसमें बादल होते हैं, वर्षा होती है, उसमें सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि हैं, तो आकाशका खयाल होता है, अन्यथा नहीं होता। आकाशका खयाल न होनेपर भी हमारी सब क्रियाएँ आकाशमें ही होती हैं। ऐसे ही उस परमात्मतत्त्वकी तरफ खयाल न होनेपर भी हमारी सम्पूर्ण क्रियाएँ उस परमात्मतत्त्वमें ही हो रही हैं। इसलिये गीताने कहा कि—‘**शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया**’ अर्थात् जिस बुद्धिमें धीरज है, ऐसी बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे उपराम हो जाय। संसारकी कोई भी बात मनमें आये, तो उससे उपराम हो जाय। साधककी भूल यह होती है कि जिस समय वह परमात्माका ध्यान करने बैठता है, उस समय सांसारिक वस्तुकी याद आनेपर वह उसका विरोध करने लगता है। विरोध करनेसे भी वस्तुका अपने साथ सम्बन्ध हो जाता है और उसमें राग करनेसे भी सम्बन्ध हो जाता है। अतः न तो उसका विरोध करें और न उसमें राग करें। उसकी उपेक्षा करें, उससे उदासीन हो जायँ। बेपरवाह हो जायँ। संसारकी याद आ गयी तो आ गयी, नहीं आयी तो नहीं आयी—इस बेपरवाहीसे संसारके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि उससे उदासीन ही नहीं, उपराम हो जाय—‘**शनैः शनैः उपरमेत्।**’

उत्पन्न होनेवाली चीज नष्ट होनेवाली होती है—यह नियम है। अतः संसारका कितना ही संकल्प-विकल्प हो जाय, वह सब नष्ट हो रहा है। इसलिये उसको रखनेकी चेष्टा करना भी गलती है और नाश करनेका उद्योग करना भी गलती है। संसारमें बहुत-सी चीजें उत्पन्न और नष्ट होती हैं, पर उनका पाप और पुण्य हमें नहीं लगता; क्योंकि उनसे हमारा सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही मनमें संकल्प-विकल्प आ जाय, संसारका चिन्तन हो जाय, तो उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। न तो याद आनेवाली वस्तुके साथ सम्बन्ध है और न जिसमें वस्तुकी याद आयी, उस मनके साथ ही सम्बन्ध है। हमारा सम्बन्ध तो सब जगह परिपूर्ण परमात्मासे है। अतः उत्पन्न और नष्ट होनेवाले संकल्प-विकल्पसे क्या तो राग करें और क्या द्वेष करें? यह तो उत्पत्ति और विनाशका एक प्रवाह है। इससे उपराम हो जाय, विमुख हो जाय, इसकी कुछ भी

परवाह न करे।

एक परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। जब हम अपना एक व्यक्तित्व पकड़ लेते हैं, तब ‘मैं हूँ’ ऐसा दीखने लगता है। यह व्यक्तित्व, ‘मैं’-पन भी जिसके अन्तर्गत है, ऐसा वह अपार, असीम, सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मा है। जैसे, सम्पूर्ण पदार्थ, क्रियाएँ आदि एक प्रकाशके अन्तर्गत हैं। उस प्रकाशका सम्बन्ध है तो मात्र वस्तुओं, क्रियाओं, व्यक्तियों आदिके साथ है और नहीं है तो किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं है। प्रकाश अपनी जगह ज्यों-का-त्यों स्थित है। उसमें कई वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं, कई क्रियाएँ होती रहती हैं; किन्तु प्रकाशमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ही प्रकाशस्वरूप परमात्माके साथ किसी भी वस्तु, क्रिया आदिका कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है तो सम्पूर्णके साथ सम्बन्ध है, नहीं तो किसीके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। ये वस्तु, क्रिया आदि सब उत्पत्ति-विनाशवाली हैं और वह परमात्मा अनुत्पन्न तत्त्व है। उस परमात्मामें स्थित होकर कुछ भी चिन्तन न करे।

एक चिन्तन ‘करते’ हैं और एक चिन्तन ‘होता’ है। चिन्तन करे नहीं और अपने-आप कोई चिन्तन हो जाय तो उसके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, तटस्थ रहे। वास्तवमें हम तटस्थ ही हैं; क्योंकि संकल्प-विकल्प तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर हम रहते हैं। इसलिये रहनेवाले स्वरूपमें ही रहें और संकल्प-विकल्पकी उपेक्षा कर दें, तो हमारेपर वह (संकल्प-विकल्प) लागू नहीं होगा। साधक एक गलती करता है कि जब उसको संसार याद आता है, तब वह उससे द्वेष करता है कि इसको हटाओ, इसको मिटाओ। ऐसा करनेसे संसारके साथ विशेष सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिये उसको हटानेका कोई उद्योग न करे, प्रत्युत ऐसा विचार करे कि जो संकल्प-विकल्प होते हैं, उनमें भी वह परमात्मतत्त्व ओतप्रोत है। जैसे जलमें बर्फका ढेला डाल दें, तो बर्फ स्वयं भी जल है और उसके बाहर भी जल है। ऐसे ही संकल्प-विकल्प कुछ भी आये, वह परमात्माके ही अन्तर्गत है और संकल्प-विकल्पके भी अन्तर्गत परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। जैसे समुद्रमें बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं। एक लहरके बाद दूसरी लहर आती है। उन लहरोंमें भी जल-ही-जल है। देखनेमें लहर अलग दीखती है, पर जलके सिवाय लहर कुछ नहीं है। ऐसे ही संकल्प-विकल्पमें परमात्मतत्त्वके सिवाय कोई तत्त्व

नहीं है, कोई वस्तु नहीं है।

अभी कोई पुरानी घटना याद आ गयी, तो वह घटना पहले हुई थी, अब वह घटना नहीं है। मनुष्य जबर्दस्ती उस घटनाको याद करके घबरा जाता है कि क्या करूँ, मन नहीं लगता! वास्तवमें जब परमात्माका ध्यान करते हैं, उस समय अनेक तरहकी पुरानी बातोंकी याद, पुराने संस्कार नष्ट होनेके लिये प्रकट होते हैं। परन्तु साधक इस बातको समझे बिना उनको सत्ता देकर और मजबूत बना लेता है। इसलिये उनकी उपेक्षा कर दे। उनको न अच्छा समझे और न बुरा समझे, तो वे जैसे उत्पन्न हुए, वैसे ही नष्ट हो जायँगे। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है। हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारा है। सब जगह परिपूर्ण उस परमात्मामें हमारी स्थिति सब समयमें है—ऐसा मानकर चुप बैठ जाय। अपनी तरफसे कुछ भी चिन्तन न करे। अपने-आप चिन्तन हो जाय तो उससे सम्बन्ध न जोड़े। फिर वृत्तियाँ अपने-आप शान्त हो जायँगी और परमात्माका ध्यान स्वतः होगा। कारण कि वृत्तियाँ आने-जानेवाली हैं और परमात्मा सदा रहनेवाला है। जो स्वतःसिद्ध है, उसमें करना क्या पड़ेगा? करना कुछ है ही नहीं। साधक ऐसा मान लेता है कि मैं ध्यान करता हूँ, चिन्तन करता हूँ—यह गलती है। जब सब जगह एक परमात्मा ही है, तो क्या चिन्तन करे, क्या ध्यान करे! समुद्रमें लहरें होती हैं, पर जल-तत्त्वमें न लहरें हैं, न समुद्र है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वमें न संसार है, न आकृति है, न आना-जाना है। वह परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है, सम है, शान्त है, निर्विकार है, स्वतःसिद्ध है। उसका चिन्तन करना नहीं पड़ता। उसका चिन्तन क्या करे? उसमें तो हमारी स्थिति स्वतः है, हर समय है। व्यवहार करते समय भी उस परमात्मासे हम अलग नहीं होते, प्रत्युत निरन्तर उसमें रहते हैं। जब व्यवहारवाली वस्तुओंको आदर देते हैं, महत्त्व देते हैं, तब विक्षेप होता है। एकान्तमें बैठे हैं और कोई बात याद आ जाती है तो विक्षेप हो जाता है। वास्तवमें विक्षेप उस बातसे नहीं होता। उसको सत्ता दे देते हैं, महत्ता दे देते हैं, उससे विक्षेप होता है।

जैसे आकाशमें बादल आते हैं और शान्त हो जाते हैं,

ऐसे ही मनमें कई स्फुरणाएँ आती हैं और शान्त हो जाती हैं। आकाशमें कितने ही बादल आयें और चले जायँ, पर आकाशमें कुछ परिवर्तन नहीं होता; वह ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे ही ध्यानके समय कुछ याद आये अथवा न आये, परमात्मा ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण रहता है। कुछ याद आये तो उसमें भी परमात्मा है और कुछ याद न आये तो उसमें भी परमात्मा है। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो कुछ आ जाय, उन सबके बाहर भी परमात्मा है और सबके भीतर भी परमात्मा है। चर और अचर जो कुछ है, वह भी परमात्मा ही है। दूर-से-दूर भी परमात्मा है, नजदीक-से-नजदीक भी परमात्मा है। परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वह बुद्धिके अन्तर्गत नहीं आता (गीता—तेरहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। ऐसा वह परमात्मा सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन है। सब जगह पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, सम आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, अटल आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द है!

एकान्तमें ध्यान करनेके सिवाय दूसरे समय कार्य करते हुए भी ऐसा समझे कि परमात्मा सबमें परिपूर्ण है। कार्य करते हुए सावधान होकर परमात्माकी सत्ता मानेंगे, तो ध्यानके समय बड़ी सहायता मिलेगी और ध्यानके समय संकल्प-विकल्पकी उपेक्षा करके परमात्मामें अटल स्थित रहेंगे, तो व्यवहार करते समय परमात्माके चिन्तनमें बड़ी सहायता मिलेगी। जो साधक होता है, वह घंटे-दो-घंटे नहीं, आठों पहर साधक होता है। जैसे ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपनेमें निरन्तर स्थित रहता है, ऐसे ही मात्र जीव परमात्मामें निरन्तर स्थित रहते हैं। ब्राह्मण तो पैदा होता है, पर परमात्मा पैदा नहीं होता। परन्तु काम-धंधा करते हुए पदार्थोंकी, क्रियाओंकी, व्यक्तियोंकी तरफ वृत्ति रहनेसे उन सबमें परिपूर्ण परमात्मा दीखता नहीं। इसलिये एकान्तमें बैठकर ध्यान करते समय और व्यवहारकालमें कार्य करते समय साधककी दृष्टि इस तरफ रहनी चाहिये कि सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, क्रिया आदिमें एक परमात्मतत्त्व ही ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। उसीमें स्थित रहे और कुछ भी चिन्तन न करे।

**परिशिष्ट भाव**—ध्यानयोगके दो प्रकार हैं—(१) मनको एकाग्र करना और (२) विवेकपूर्वक मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना। विवेकपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेदसे तत्काल मुक्ति होती है। संसारमें कितना पाप-पुण्य होता है, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। इसीको 'उपरति' कहते हैं। चिन्तन करनेकी वृत्तिसे भी सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। श्रीमद्भगवतमें आया है—

**सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥**

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

‘पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरकी सभी क्रियाओंसे परमात्माकी उपासना) करनेवाले भक्तका ‘सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है’—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्याके द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।’

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि ‘परमात्मतत्त्व है’। फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। आत्माका, अनात्माका, परमात्माका, संसारका, संयोगका, वियोगका कुछ भी चिन्तन न करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। इसलिये ‘न किञ्चिदपि चिन्तयेत्’ में करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है; क्योंकि जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परन्तु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वतः शान्त हो जाती है। अतः साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है। जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी शनैः-शनैः अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार शनैः-शनैः अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता) का अनुभव हो जाता है।

यहाँ वृत्तिका अभाव करनेमें ही ‘शनैः शनैः’ पदोंका प्रयोग हुआ है ‘शनैः शनैः’ कहनेका तात्पर्य है कि जबर्दस्ती न करे, जल्दबाजी न करे; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरके संस्कार जल्दबाजीसे नहीं मिटते। जल्दबाजी चंचलताको स्थिर, स्थायी करनेवाली है, पर ‘शनैः शनैः’ चंचलताका नाश करनेवाली है।

प्रकृतिके सम्बन्धके बिना तत्त्वका चिन्तन, मनन आदि नहीं हो सकता। अतः साधक तत्त्वका चिन्तन करेगा तो चित्त साथमें रहेगा, मनन करेगा तो मन साथमें रहेगा, निश्चय करेगा तो बुद्धि साथमें रहेगी, दर्शन करेगा तो दृष्टि साथमें रहेगी, श्रवण करेगा तो श्रवणेन्द्रिय साथमें रहेगी, कथन करेगा तो वाणी साथमें रहेगी। ऐसे ही ‘है’ को मानेगा तो मान्यता तथा माननेवाला रह जायगा और ‘नहीं’ का निषेध करेगा तो निषेध करनेवाला रह जायगा। कर्तृत्वाभिमानका त्याग करेगा तो ‘मैं कर्ता नहीं हूँ’—यह सूक्ष्म अहंकार रह जायगा अर्थात् त्याग करनेसे त्याग्य वस्तु और त्यागी (त्याग करनेवाला) रह जायगा। इसलिये साधक उपराम हो जाय अर्थात् न मान्यता करे, न निषेध करे; न ग्रहण करे, न त्याग करे, प्रत्युत स्वतःसिद्ध स्वाभाविक तत्त्वको स्वीकार करे और बाहर-भीतरसे चुप हो जाय। मेरेको चुप होना है—यह आग्रह (संकल्प) भी न रखे, नहीं तो कर्तृत्व आ जायगा; क्योंकि चुप स्वतःसिद्ध है।

साधक मैं, तू, यह और वह—इन चारोंको छोड़ दे तो एक ‘है’ (सत्तामात्र) रह जाता है। उस स्वतःसिद्ध ‘है’ को स्वीकार कर ले तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करे। यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो उससे न राग करे, न द्वेष करे; न राजी हो, न नाराज हो; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने, चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दोष तो जड़तासे सम्बन्ध जोड़नेसे लगता है। अतः चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि मैं चिन्तन करता हूँ और चिन्तन मेरेमें होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

‘आत्मसंस्थं मनः कृत्वा’ में ‘मन’ शब्द बुद्धिका वाचक है; क्योंकि चंचलता मनमें और स्थिरता बुद्धिमें होती है। अतः ‘आत्मसंस्थम्’ कहनेका तात्पर्य है कि चंचलता न रहे, प्रत्युत स्थिरता रहे। जैसे ‘यह अमुक गाँव है’—ऐसी मान्यता दृढ़ होनेसे इसका चिन्तन नहीं करना पड़ता, ऐसे ही ‘परमात्मा हैं’—ऐसी मान्यता दृढ़ रहे तो फिर इसका चिन्तन नहीं करना पड़ेगा। जो स्वतःसिद्ध है, उसका चिन्तन क्या करें? इसलिये आत्मचिन्तन करनेसे आत्मबोध नहीं होता; क्योंकि आत्मचिन्तन करनेसे चिन्तक रहता है और अनात्माकी सत्ता रहती है। अनात्माकी सत्ता मानेंगे, तभी तो अनात्माका त्याग और आत्माका चिन्तन करेंगे!

‘न किञ्चिदपि चिन्तयेत्’—इसको ‘चुप साधन’, ‘मूक सत्संग’ और अचिन्त्यका ध्यान’ भी कहते हैं। इसमें न तो स्थूलशरीरकी क्रिया है, न सूक्ष्मशरीरका चिन्तन है और न कारण शरीरकी स्थिरता है। इसमें इन्द्रियाँ भी चुप हैं, मन भी चुप है, बुद्धि भी चुप है अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी कोई क्रिया नहीं है। सभी चुप हैं, कोई बोलता नहीं! जो देखना था वह देख लिया, सुनना था वह सुन लिया, बोलना था वह बोल लिया, करना था वह कर लिया, अब कुछ भी देखने, सुनने, बोलने, करने आदिकी रुचि नहीं रही—ऐसा होनेपर ही ‘चुप साधन’ होता है। यह ‘चुप साधन’ समाधिसे भी ऊँचा है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहमसे सम्बन्ध-विच्छेद है। समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर चुप साधनमें ये दोष नहीं रहते। चुप साधन वृत्तिरहित है।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त प्रकारसे निर्विकल्प स्थिति न हो तो क्या करे—इसके लिये आगेके श्लोकमें अभ्यास बताते हैं।

**यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।**

**ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥**

अस्थिरम्	= (यह) अस्थिर (और)	यतः, यतः	= जहाँ-जहाँ	एतत्	= इसको
चञ्चलम्	= चंचल	निश्चरति	= विचरण करता है,	आत्मनि	= (एक) परमात्मामें
मनः	= मन	ततः, ततः	= वहाँ-वहाँसे	एव	= ही
		नियम्य	= हटाकर	वशम्, नयेत्	= भलीभाँति लगाये*

व्याख्या—‘यतो यतो निश्चरति .....आत्मन्येव वशं नयेत्’—साधकने जो ध्येय बनाया है, उसमें यह मन टिकता नहीं, ठहरता नहीं। अतः इसको अस्थिर कहा गया है। यह मन तरह-तरहके सांसारिक भोगोंका, पदार्थोंका चिन्तन करता है। अतः इसको ‘चंचल’ कहा गया है। तात्पर्य है कि यह मन न तो परमात्मामें स्थिर होता है और न संसारको ही छोड़ता है। इसलिये साधकको चाहिये कि यह मन जहाँ-जहाँ जाय, जिस-जिस कारणसे जाय, जैसे-जैसे जाय और जब-जब जाय, इसको वहाँ-वहाँसे, उस-उस कारणसे वैसे-वैसे और तब-तब हटाकर परमात्मामें लगाये। इस अस्थिर और चंचल मनका नियमन करनेमें सावधानी रखे, ढिलाई न करे।

मनको परमात्मामें लगानेका तात्पर्य है कि जब यह पता लगे कि मन पदार्थोंका चिन्तन कर रहा है, तभी ऐसा विचार करे कि चिन्तनकी वृत्ति और उसके विषयका आधार और प्रकाशक परमात्मा ही हैं। यही परमात्मामें मन लगाना है।

**परमात्मामें मन लगानेकी युक्तियाँ**

(१) मन जिस किसी इन्द्रियके विषयमें, जिस किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति आदिमें चला जाय अर्थात् उसका चिन्तन करने लग जाय, उसी समय उस विषय आदिसे मनको हटाकर अपने ध्येय—परमात्मामें लगाये।

फिर चला जाय तो फिर लाकर परमात्मामें लगाये। इस प्रकार मनको बार-बार अपने ध्येयमें लगाता रहे।

(२) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही परमात्माको देखे। जैसे गंगाजी याद आ जायँ, तो गंगाजीके रूपमें परमात्मा ही हैं, गाय याद आ जाय, तो गायरूपसे परमात्मा ही हैं—इस तरह मनको परमात्मामें लगाये। दूसरी दृष्टिसे, गंगाजी आदिमें सत्तारूपसे परमात्मा-ही-परमात्मा हैं; क्योंकि इनसे पहले भी परमात्मा ही थे, इनके मिटनेपर भी परमात्मा ही रहेंगे और इनके रहते हुए भी परमात्मा ही हैं—इस तरह मनको परमात्मामें लगाये।

(३) साधक जब परमात्मामें मन लगानेका अभ्यास करता है, तब संसारकी बातें याद आती हैं। इससे साधक घबरा जाता है कि जब मैं संसारका काम करता हूँ, तब इतनी बातें याद नहीं आती, इतना चिन्तन नहीं होता; परन्तु जब परमात्मामें मन लगानेका अभ्यास करता हूँ, तब मनमें तरह-तरहकी बातें याद आने लगती हैं! पर ऐसा समझकर साधकको घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि जब साधकका उद्देश्य परमात्माका बन गया, तो अब संसारके चिन्तनके रूपमें भीतरसे कूड़ा-कचरा निकल रहा है, भीतरसे सफाई हो रही है। तात्पर्य है कि सांसारिक कार्य करते समय भीतर जमा हुए पुराने संस्कारोंको बाहर

\* गीताभरमें अभ्यासका स्वरूप स्पष्टरूपसे इसी श्लोकमें देखनेको मिलता है।

निकलनेका मौका नहीं मिलता। इसलिये सांसारिक कार्य छोड़कर एकान्तमें बैठनेसे उनको बाहर निकलनेका मौका मिलता है और वे बाहर निकलने लगते हैं।

(४) साधकको भगवान्का चिन्तन करनेमें कठिनता इसलिये पड़ती है कि वह अपनेको संसारका मानकर भगवान्का चिन्तन करता है। अतः संसारका चिन्तन स्वतः होता है और भगवान्का चिन्तन करना पड़ता है, फिर भी चिन्तन होता नहीं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह भगवान्का होकर भगवान्का चिन्तन करे। तात्पर्य है कि 'मैं तो केवल भगवान्का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं; मैं शरीर-संसारका नहीं हूँ और शरीर-संसार मेरे नहीं हूँ'—इस तरह भगवान्के साथ सम्बन्ध होनेसे भगवान्का चिन्तन स्वाभाविक ही होने लगेगा, चिन्तन करना नहीं पड़ेगा।

(५) ध्यान करते समय साधकको यह खयाल रखना चाहिये कि मनमें कोई कार्य जमा न रहे अर्थात् 'अमुक कार्य करना है, अमुक स्थानपर जाना है, अमुक व्यक्तिसे मिलना है, अमुक व्यक्ति मिलनेके लिये आनेवाला है, तो

उसके साथ बातचीत भी करनी है' आदि कार्य जमा न रखे। इन कार्योंके संकल्प ध्यानको लगने नहीं देते। अतः ध्यानमें शान्तचित्त होकर बैठना चाहिये।

(६) ध्यान करते समय कभी संकल्प-विकल्प आ जायँ, तो 'अडंग बडंग स्वाहा'—ऐसा कहकर उनको दूर कर दे अर्थात् 'स्वाहा' कहकर संकल्प-विकल्प (अडंग-बडंग) की आहुति दे दे।

(७) सामने देखते हुए पलकोंको कुछ देर बार-बार शीघ्रतासे झपकाये और फिर नेत्र बंद कर ले। पलकें झपकानेसे जैसे बाहरका दृश्य कटता है, ऐसे ही भीतरके संकल्प-विकल्प भी कट जाते हैं।

(८) पहले नासिकासे श्वासको दो-तीन बार जोरसे बाहर निकाले और फिर अन्तमें जोरसे (फुंकारके साथ) पूरे श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक दे। जितनी देर श्वास रोक सके, उतनी देर रोककर फिर धीरे-धीरे श्वास लेते हुए स्वाभाविक श्वास लेनेकी स्थितिमें आ जाय। इससे सभी संकल्प-विकल्प मिट जाते हैं।

**परिशिष्ट भाव**—यदि पूर्वश्लोकके अनुसार चुप-साधन न कर सके तो मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसको एक परमात्मामें लगाये। मनको परमात्मामें लगानेका एक बहुत श्रेष्ठ साधन है कि मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माको ही देखे अथवा मनमें जो-जो चिन्तन आये, उसको परमात्माका ही स्वरूप समझे।

एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक परमात्माकी सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा, तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि जबतक अपनेमें दूसरी सत्ताकी मान्यता है, तबतक रागका सर्वथा नाश नहीं हो सकता और रागका सर्वथा नाश हुए बिना मन सर्वथा निर्विषय नहीं हो सकता। रागके रहते हुए मनका सीमित निरोध होता है, जिससे लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए जो मन निरुद्ध होता है, उसमें व्युत्थान होता है अर्थात् उसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कारण कि दूसरी सत्ता माने बिना दो अवस्थाएँ सम्भव ही नहीं हैं। अतः मनका सर्वथा निरोध दूसरी सत्ता न माननेसे ही होगा।

सम्बन्ध—चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें जिस ध्यानयोगीकी उपरतिका वर्णन किया गया, आगेके दो श्लोकोंमें उसकी अवस्थाका वर्णन करते हुए उसके साधनका फल बताते हैं।

**प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।**

**उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥**

अकल्मषम् = जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं,

शान्तरजसम् = जिसका रजोगुण शान्त हो गया है (तथा)

प्रशान्तमनसम् = जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, (ऐसे)

एनम् = इस ब्रह्मभूतम् = ब्रह्मरूप बने हुए

योगिनम् = योगीको हि = निश्चित ही उत्तमम् = उत्तम (सात्त्विक)

सुखम् = सुख उपैति = प्राप्त होता है।

व्याख्या—‘प्रशान्तमनसं ह्येनं ..... ब्रह्मभूत-  
मकल्मषम्’—जिसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात्  
तमोगुण और तमोगुणकी अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और  
मोह (गीता—चौदहवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)—ये  
वृत्तियाँ नष्ट हो गयी हैं, ऐसे योगीको यहाँ ‘अकल्मषम्’  
कहा गया है।

जिसका रजोगुण और रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति,  
नये-नये कर्मोंमें लगना, अशान्ति और स्पृहा (गीता—  
चौदहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)—ये वृत्तियाँ शान्त  
हो गयी हैं, ऐसे योगीको यहाँ ‘शान्तरजसम्’ बताया  
गया है।

तमोगुण, रजोगुण तथा उनकी वृत्तियाँ शान्त होनेसे  
जिसका मन स्वाभाविक शान्त हो गया है अर्थात् जिसकी  
मात्र प्राकृत पदार्थोंसे तथा संकल्प-विकल्पोंसे भी उपरति  
हो गयी है, ऐसे स्वाभाविक शान्त मनवाले योगीको यहाँ  
‘प्रशान्तमनसम्’ कहा गया है।

‘प्रशान्त’ कहनेका तात्पर्य है कि ध्यानयोगी जबतक  
मनको अपना मानता है, तबतक मन अभ्याससे शान्त तो  
हो सकता है, पर प्रशान्त अर्थात् सर्वथा शान्त नहीं हो  
सकता। परन्तु जब ध्यानयोगी मनसे भी उपराम हो जाता

है अर्थात् मनको भी अपना नहीं मानता, मनसे भी सम्बन्ध-  
विच्छेद कर लेता है, तब मनमें राग-द्वेष न होनेसे उसका  
मन स्वाभाविक ही शान्त हो जाता है।

पचीसवें श्लोकमें जिसकी उपरामताका वर्णन किया  
गया है, वही (उपराम होनेसे) पापरहित, शान्त रजो-  
गुणवाला और प्रशान्त मनवाला हुआ है। अतः उस योगीके  
लिये यहाँ ‘एनम्’ पद आया है। ऐसे ब्रह्मस्वरूप  
ध्यानयोगीको स्वाभाविक ही उत्तम सुख अर्थात् सात्त्विक  
सुख प्राप्त होता है।

पहले तेईसवें श्लोकके उत्तरार्धमें जिस योगका निश्चय-  
पूर्वक अभ्यास करनेकी आज्ञा दी गयी थी—‘स निश्चयेन  
योक्तव्यः’ उस योगका अभ्यास करनेवाले योगीको  
निश्चित ही उत्तम सुखकी प्राप्ति हो जायगी, इसमें  
किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। इस निःसन्दिग्धताको  
बतानेके लिये यहाँ ‘हि’ पदका प्रयोग हुआ है।

‘सुखमुपैति’ कहनेका तात्पर्य है कि जो योगी सबसे  
उपराम हो गया है, उसको उत्तम सुखकी खोज नहीं करनी  
पड़ती, उस सुखकी प्राप्तिके लिये उद्योग, परिश्रम आदि  
नहीं करने पड़ते, प्रत्युत वह उत्तम सुख उसको स्वतः-  
स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

एवम् = इस प्रकार  
आत्मानम् = अपने-आपको  
सदा = सदा  
युञ्जन् = (परमात्मामें)

लगाता हुआ  
विगतकल्मषः = पापरहित  
योगी = योगी  
सुखेन = सुखपूर्वक

ब्रह्मसंस्पर्शम् = ब्रह्मप्राप्तिरूप  
अत्यन्तम् = अत्यन्त  
सुखम् = सुखका  
अश्नुते = अनुभव कर लेता है।

व्याख्या—‘युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत-  
कल्मषः’—अपनी स्थितिके लिये जो (मनको बार-बार  
लगाना आदि) अभ्यास किया जाता है, वह अभ्यास यहाँ  
नहीं है। यहाँ तो अनभ्यास ही अभ्यास है अर्थात् अपने  
स्वरूपमें अपने-आपको दृढ़ रखना ही अभ्यास है। इस  
अभ्यासमें अभ्यासवृत्ति नहीं है। ऐसे अभ्याससे वह योगी  
अहंता-ममतारहित हो जाता है। अहंता और ममतासे रहित  
होना ही पापोंसे रहित होना है; क्योंकि संसारके साथ  
अहंता-ममतापूर्वक सम्बन्ध रखना ही पाप है।

पंद्रहवें श्लोकमें ‘युञ्जन्नेवम्’ पद सगुणके ध्यानके  
लिये आया है और यहाँ ‘युञ्जन्नेवम्’ पद निर्गुणके

ध्यानके लिये आया है। ऐसे ही पंद्रहवें श्लोकमें ‘नियतमानसः’  
आया है और यहाँ ‘विगतकल्मषः’ आया है; क्योंकि वहाँ  
परमात्मामें मन लगानेकी मुख्यता है और यहाँ जडताका  
त्याग करनेकी मुख्यता है। वहाँ तो परमात्माका चिन्तन  
करते-करते मन सगुण परमात्मामें तल्लीन हो गया तो संसार  
स्वतः ही छूट गया और यहाँ अहंता-ममतारूप कल्मषसे  
अर्थात् संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने ध्येय  
परमात्मामें स्थित हो गया। इस प्रकार दोनोंका तात्पर्य एक  
ही हुआ अर्थात् वहाँ परमात्मामें लगनेसे संसार छूट गया  
और यहाँ संसारको छोड़कर परमात्मामें स्थित हो गया।

‘सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते’—उसकी



ब्रह्मके साथ जो अभिन्नता होती है, उसमें 'मैं'-पनका संस्कार भी नहीं रहता, सत्ता भी नहीं रहती। यही सुखपूर्वक ब्रह्मका संस्पर्श करना है। जिस सुखमें अनुभव करनेवाला और अनुभवमें आनेवाला—ये दोनों ही नहीं रहते, वह 'अत्यन्त

सुख' है। इस सुखको योगी प्राप्त कर लेता है। यह 'अत्यन्त सुख', 'अक्षय सुख' (पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक) और 'आत्यन्तिक सुख' (छठे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)—ये एक ही परमात्मतत्त्वरूप आनन्दके वाचक हैं।

सम्बन्ध—अठारहवेंसे तेईसवें श्लोकतक स्वरूपका ध्यान करनेवाले जिस सांख्ययोगीका वर्णन हुआ है, उसके अनुभवका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

## सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वत्र	= सब जगह	अन्तःकरणवाला	ईक्षते	= देखता है (और)
समदर्शनः	= अपने स्वरूपको देखनेवाला	(सांख्ययोगी)	सर्वभूतानि	= सम्पूर्ण प्राणियोंको
च	= और	आत्मानम् = अपने स्वरूपको	आत्मनि	= अपने स्वरूपमें
योगयुक्तात्मा	= ध्यानयोगसे युक्त	सर्वभूतस्थम् = सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित		(देखता है) ।

व्याख्या—'ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः'—सब जगह एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। जैसे मनुष्य खाँड़से बने हुए अनेक तरहके खिलौनोंके नाम, रूप, आकृति आदि भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें समानरूपसे एक खाँड़को, लोहेसे बने हुए अनेक तरहके अस्त्र-शस्त्रोंमें एक लोहेको, मिट्टीसे बने हुए अनेक तरहके बर्तनोंमें एक मिट्टीको और सोनेसे बने हुए आभूषणोंमें एक सोनेको ही देखता है, ऐसे ही ध्यानयोगी तरह-तरहकी वस्तु, व्यक्ति आदिमें समरूपसे एक अपने स्वरूपको ही देखता है।

'योगयुक्तात्मा'—इसका तात्पर्य है कि ध्यानयोगका अभ्यास करते-करते उस योगीका अन्तःकरण अपने स्वरूपमें तल्लीन हो गया है। [तल्लीन होनेके बाद उसका अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसका संकेत 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' पदोंसे किया गया है।]

'सर्वभूतस्थमात्मानम्'—वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी आत्माको—अपने सत्स्वरूपको स्थित देखता है। जैसे साधारण प्राणी सारे शरीरमें अपने-आपको देखता है अर्थात् शरीरके सभी अवयवोंमें, अंशोंमें 'मैं' को ही पूर्णरूपसे देखता है, ऐसे ही समदर्शी पुरुष सब प्राणियोंमें अपने स्वरूपको ही स्थित देखता है।

किसीको नींदमें स्वप्न आये, तो वह स्वप्नमें स्थावर-जंगम प्राणी-पदार्थ देखता है। पर नींद खुलनेपर वह स्वप्नकी सृष्टि नहीं दीखती; अतः स्वप्नमें स्थावर-जंगम

आदि सब कुछ स्वयं ही बना है। जाग्रत्-अवस्थामें किसी जड या चेतन प्राणी-पदार्थकी याद आती है, तो वह मनसे दीखने लग जाता है और याद हटते ही वह सब दृश्य अदृश्य हो जाता है; अतः यादमें सब कुछ अपना मन ही बना है। ऐसे ही ध्यानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने स्वरूपको स्थित देखता है। स्थित देखनेका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें सत्तारूपसे अपना ही स्वरूप है। स्वरूपके सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं है; क्योंकि संसार एक क्षण भी एकरूप नहीं रहता, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। संसारके किसी रूपको एक बार देखनेपर अगर दुबारा उसको कोई देखना चाहे, तो देख ही नहीं सकता; क्योंकि वह पहला रूप बदल गया। ऐसे परिवर्तनशील वस्तु, व्यक्ति आदिमें योगी सत्तारूपसे अपरिवर्तनशील अपने स्वरूपको ही देखता है।

'सर्वभूतानि चात्मनि'—वह सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अन्तर्गत देखता है अर्थात् अपने सर्वगत, असीम, सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें ही सभी प्राणियोंको तथा सारे संसारको देखता है। जैसे एक प्रकाशके अन्तर्गत लाल, पीला, काला, नीला आदि जितने रंग दीखते हैं, वे सभी प्रकाशसे ही बने हुए हैं और प्रकाशमें ही दीखते हैं और जैसे जितनी वस्तुएँ दीखती हैं, वे सभी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई हैं और सूर्यके प्रकाशमें ही दीखती हैं, ऐसे ही वह योगी सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपसे ही पैदा हुए, स्वरूपमें ही लीन होते हुए और स्वरूपमें ही स्थित देखता है। तात्पर्य है कि उसको जो कुछ दीखता है, वह सब अपना स्वरूप ही

दीखता है।

इस श्लोकमें प्राणियोंमें तो अपनेको स्थित बताया है, पर अपनेमें प्राणियोंको स्थित नहीं बताया। ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि प्राणियोंमें तो अपनी सत्ता है, पर अपनेमें प्राणियोंकी सत्ता नहीं है। कारण कि स्वरूप तो सदा

एकरूप रहनेवाला है, पर प्राणी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं।

इस श्लोकका तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहारमें तो प्राणियोंके साथ अलग-अलग बर्ताव होता है, परन्तु अलग-अलग बर्ताव होनेपर भी उस समदर्शी योगीकी स्थितिमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

सम्बन्ध—भगवान्ने चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले जिस भक्तियोगीका वर्णन किया था, उसके अनुभवकी बात आगेके श्लोकमें कहते हैं।

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।**

**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणशयति ॥ ३० ॥**

यः = जो (भक्त)  
सर्वत्र = सबमें  
माम् = मुझे  
पश्यति = देखता है  
च = और

मयि = मुझमें  
सर्वम् = सबको  
पश्यति = देखता है,  
तस्य = उसके लिये  
अहम् = मैं

न, प्रणश्यामि = अदृश्य नहीं होता  
च = और  
सः = वह  
मे = मेरे लिये  
न, प्रणशयति = अदृश्य नहीं होता।

व्याख्या—‘यो मां पश्यति सर्वत्र’—जो भक्त सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिमें मेरेको देखता है। जैसे, ब्रह्माजी जब बछड़ों और ग्वालबालोंको चुराकर ले गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये। बछड़े और ग्वालबाल ही नहीं, प्रत्युत उनके बेंत, सींग, बाँसुरी, वस्त्र, आभूषण आदि भी भगवान् स्वयं ही बन गये\*। यह लीला एक वर्षतक चलती रही, पर किसीको इसका पता नहीं चला। बछड़ोंमेंसे कई बछड़े तो केवल दूध ही पीनेवाले थे, इसलिये वे घरपर ही रहते थे और बड़े बछड़ोंको भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथ वनमें ले जाते थे। एक दिन दाऊ दादा (बलरामजी) ने देखा कि छोटे बछड़ोंवाली गायें भी अपने पहलेके (बड़े) बछड़ोंको देखकर उनको दूध पिलानेके लिये हुंकार मारती हुई दौड़ पड़ीं। बड़े गोपोंने उन गायोंको बहुत रोका, पर वे रुकी नहीं। इससे गोपोंको उन गायोंपर बहुत गुस्सा आ गया।

परन्तु जब उन्होंने अपने-अपने बालकोंको देखा, तब उनका गुस्सा शान्त हो गया और स्नेह उमड़ पड़ा। वे बालकोंको हृदयसे लगाने लगे, उनका माथा सूँघने लगे। इस लीलाको देखकर दाऊ दादाने सोचा कि यह क्या बात है; उन्होंने ध्यान लगाकर देखा तो उनको बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण ही दिखायी दिये। ऐसे ही भगवान्का सिद्ध भक्त सब जगह भगवान्को ही देखता है अर्थात् उसकी दृष्टिमें भगवत्सत्ताके सिवाय दूसरी किंचिन्मात्र भी सत्ता नहीं रहती।

‘सर्वं च मयि पश्यति’—और जो भक्त देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिको मेरे ही अन्तर्गत देखता है। जैसे, गीताका उपदेश देते समय अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान् अपना विश्वरूप दिखाते हुए कहते हैं कि चराचर सारे संसारको मेरे एक अंशमें स्थित देख—‘इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे .....’ (११।७), तो अर्जुन भी कहते हैं कि मैं

\* यावद्दत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम्।

यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारदिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।१९)

‘वे बालक और बछड़े संख्यामें जितने थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे, उनके हाथ-पैर आदि जैसे-जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे, जैसे और जितने वस्त्राभूषण थे, उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्थाएँ जैसी थीं, जिस प्रकार वे खाते-पीते, चलते आदि थे, ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उस समय ‘यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है’—यह वेदवाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी।’

आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंको देख रहा हूँ—‘**पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान्**’ (११। १५)। संजयने भी कहा कि अर्जुनने भगवान्के शरीरमें सारे संसारको देखा—‘**तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा**’ (११। १३)। तात्पर्य है कि अर्जुनने भगवान्के शरीरमें सब कुछ भगवत्स्वरूप ही देखा। ऐसे ही भक्तको देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ आता है, उसको भगवान्में ही देखता है और भगवत्स्वरूप ही देखता है।

‘**तस्याहं न प्रणश्यामि**’—भक्त जब सब जगह मुझे ही देखता है, तो मैं उससे कैसे छिपूँ, कहाँ छिपूँ और किसके पीछे छिपूँ? इसलिये मैं उस भक्तके लिये अदृश्य नहीं रहता अर्थात् निरन्तर उसके सामने ही रहता हूँ।

‘**स च मे न प्रणश्यति**’—जब भक्त भगवान्को सब जगह देखता है, तो भगवान् भी भक्तको सब जगह देखते हैं; क्योंकि भगवान्का यह नियम है कि ‘जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको आश्रय देता हूँ’—‘**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**’ (गीता ४। ११)। तात्पर्य है कि भक्त भगवान्के साथ घुल-मिल जाते हैं, भगवान्के साथ उनकी आत्मीयता, एकता हो जाती

है; अतः भगवान् अपने स्वरूपमें उनको सब जगह देखते हैं। इस दृष्टिसे भक्त भी भगवान्के लिये कभी अदृश्य नहीं होता।

यहाँ शंका होती है कि भगवान्के लिये तो कोई भी अदृश्य नहीं है—‘**वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि** .....’ (गीता ७। २६), फिर यहाँ केवल भक्तके लिये ही ‘वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता’—ऐसा क्यों कहा है? इसका समाधान है कि यद्यपि भगवान्के लिये कोई भी अदृश्य नहीं है, तथापि जो भगवान्को सब जगह देखता है, उसके भावके कारण भगवान् भी उसको सब जगह देखते हैं। परन्तु जो भगवान्से विमुख होकर संसारमें आसक्त है, उसके लिये भगवान् अदृश्य रहते हैं—‘**नाहं प्रकाशः सर्वस्य**’ (गीता ७। २५)। अतः (उसके भावके कारण) वह भी भगवान्के लिये अदृश्य रहता है। जितने अंशमें उसका भगवान्के प्रति भाव नहीं है, उतने अंशमें वह भगवान्के लिये अदृश्य रहता है। ऐसी ही बात भगवान्ने नवें अध्यायमें भी कही है कि ‘मैं सब प्राणियोंमें समान हूँ। न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ।’

**परिशिष्ट भाव**—पूर्वश्लोकमें आत्मज्ञानकी बात कहकर अब भगवान् परमात्मज्ञानकी बात कहते हैं। ध्यानयोगके किसी साधकमें ज्ञानके संस्कार रहनेसे विवेककी मुख्यता रहती है और किसी साधकमें भक्तिके संस्कार रहनेसे श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है। अतः ज्ञानके संस्कारवाला ध्यानयोगी विवेकपूर्वक आत्माका अनुभव करता है—‘**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि**’ (गीता ६। २९) और भक्तिके संस्कारवाला ध्यानयोगी श्रद्धाविश्वासपूर्वक परमात्माका अनुभव करता है—‘**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**’।

‘**यो मां पश्यति सर्वत्र**’ पदोंका भाव है कि जो मेरेको दूसरोंमें भी देखता है और अपनेमें भी देखता है। ‘**सर्वं च मयि पश्यति**’ पदोंका भाव है कि जो दूसरोंको भी मेरेमें देखता है और अपनेको भी मेरेमें देखता है।

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी। ऐसे ही जब सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं तो फिर वे कैसे छिपें, कहाँ छिपें और किसके पीछे छिपें? क्योंकि एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं। परमात्मामें शरीर और शरीरी, सत् और असत्, जड़ और चेतन, ईश्वर और जगत्, सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार आदि कोई विभाग है ही नहीं। उस एकमें ही अनेक विभाग हैं और अनेक विभागोंमें वह एक ही है। वह विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। अतः ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’—इसको साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान ले, स्वीकार कर ले। दृढ़तासे माननेपर फिर वैसा ही अनुभव हो जायगा।

साधक पहले परमात्माको दूर देखता है, फिर नजदीक देखता है, फिर अपनेमें देखता है, और फिर केवल परमात्माको ही देखता है। कर्मयोगी परमात्माको नजदीक देखता है, ज्ञानयोगी परमात्माको अपनेमें देखता है और भक्तियोगी सब जगह परमात्माको ही देखता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् ध्यान करनेवाले सिद्ध भक्तियोगीके लक्षण बताते हैं।

## सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

एकत्वम्	= (मुझमें) एकीभावसे	माम्	= मेरा	प्राणियोंमें स्थित	अपि	= भी
आस्थितः	= स्थित हुआ	भजति	= भजन करता है,	मयि	वर्तते	= मुझमें (ही) = बर्ताव कर रहा है
यः	= जो	सः	= वह			अर्थात् वह नित्य-
योगी	= भक्तियोगी	सर्वथा	= सब कुछ			निरन्तर मुझमें ही
सर्वभूतस्थितम्	= सम्पूर्ण	वर्तमानः	= बर्ताव करता हुआ			स्थित है ।

व्याख्या—‘एकत्वमास्थितः’—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया था कि जो मेरेको सबमें और सबको मेरेमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। अदृश्य क्यों नहीं होता? कारण कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरे साथ उसकी अभिन्नता हो गयी है अर्थात् मेरे साथ उसका अत्यधिक प्रेम हो गया है।

अद्वैत-सिद्धान्तमें तो स्वरूपसे एकता होती है, पर यहाँ वैसी एकता नहीं है। यहाँ द्वैत होते हुए भी अभिन्नता है अर्थात् भगवान् और भक्त दीखनेमें तो दो हैं, पर वास्तवमें एक ही हैं\*। जैसे पति और पत्नी दो शरीर होते हुए भी अपनेको अभिन्न मानते हैं, दो मित्र अपनेको एक ही मानते हैं; क्योंकि अत्यन्त स्नेह होनेके कारण वहाँ द्वैतपना नहीं रहता। ऐसे ही जो भक्तियोगका साधक भगवान्को प्राप्त हो जाता है, भगवान्में अत्यन्त स्नेह होनेके कारण उसकी भगवान्से अभिन्नता हो जाती है। इसी अभिन्नताको यहाँ ‘एकत्वमास्थितः’ पदसे बताया गया है।

‘सर्वभूतस्थितं यो मां भजति’—सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् भगवत्स्वरूप ही है—‘वासुदेवः सर्वम्’ (७। १९)—यही उसका भजन है।

‘सर्वभूतस्थितम्’ पदसे ऐसा असर पड़ता है कि भगवान् केवल प्राणियोंमें ही स्थित हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। भगवान् केवल प्राणियोंमें ही स्थित नहीं हैं, प्रत्युत संसारके कण-कणमें परिपूर्णरूपसे स्थित हैं। जैसे, सोनेके आभूषण सोनेसे ही बनते हैं, सोनेमें ही स्थित रहते हैं और सोनेमें ही उनका पर्यवसान होता है अर्थात् सब समय एक सोना-ही-सोना है। परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें आभूषणोंकी सत्ता अलग प्रतीत होनेके कारण उनको

समझानेके लिये कहा जाता है कि आभूषणोंमें सोना ही है। ऐसे ही सृष्टिके पहले, सृष्टिके समय और सृष्टिके बाद एक परमात्मा-ही-परमात्मा है। परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें प्राणियों और पदार्थोंकी सत्ता अलग प्रतीत होनेके कारण उनको समझानेके लिये कहा जाता है कि सब प्राणियोंमें एक परमात्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है। इसी वास्तविकताको यहाँ ‘सर्वभूतस्थितं माम्’ पदोंसे कहा गया है।

‘सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते’—वह शास्त्र और वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते आदि सभी क्रियाएँ करते हुए मेरेमें ही बरतता है, मेरेमें ही रहता है। कारण कि जब उसकी दृष्टिमें मेरे सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रही, तो फिर वह जो कुछ बर्ताव करेगा, उसको कहाँ करेगा? वह तो मेरेमें ही सब कुछ करेगा।

तेरहवें अध्यायमें ज्ञानयोगके प्रकरणमें भगवान्ने यह बताया कि सब कुछ बर्ताव करते हुए भी उसका फिर जन्म नहीं होता—‘सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते’ (१३। २३); और यहाँ भगवान्ने बताया है कि सब कुछ बर्ताव करते हुए भी वह मेरेमें ही रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेकी बात है और यहाँ भगवान्के साथ अभिन्न होनेकी बात है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ज्ञानयोगी मुक्त हो जाता है और भगवान्के साथ अभिन्नता होनेपर भक्त प्रेमके एक विलक्षण रसका आस्वादन करता है, जो अनन्त और प्रतिक्षण वर्धमान है।

यहाँ भगवान्ने कहा है कि वह योगी मेरेमें बर्ताव करता है अर्थात् मेरेमें ही रहता है। इसपर शंका होती है कि क्या अन्य प्राणी भगवान्में नहीं रहते? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणी भगवान्में ही बरतते हैं,

\* ज्ञानमें तो दो होकर एक होते हैं, पर भक्तिमें प्रेमके विलक्षण आनन्दका आदान-प्रदान करनेके लिये, प्रेमका विस्तार करनेके लिये एक होकर दो हो जाते हैं; जैसे—भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीजी एक होकर भी दो हैं।

भगवान्‌में ही रहते हैं; परन्तु उनके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता और महत्ता रहनेसे वे भगवान्‌में अपनी स्थिति जानते नहीं, मानते नहीं। अतः भगवान्‌में बरतते हुए भी, भगवान्‌में रहते हुए भी उनका बर्ताव संसारमें ही हो रहा है अर्थात् उन्होंने जगत्‌में अहंता-ममता करके जगत्‌को धारण कर रखा है—‘यद्येदं धार्यते जगत्’ (गीता ७। ५)। वे

जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप न समझकर अर्थात् जगत् समझकर बर्ताव करते हैं। वे कहते भी हैं कि हम तो संसारी आदमी हैं, हम तो संसारमें रहनेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌का भक्त इस बातको जानता है कि यह सब संसार वासुदेवरूप है। अतः वह भक्त हरदम भगवान्‌में ही रहता है और भगवान्‌में ही बर्ताव करता है।

**परिशिष्ट भाव**—भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को परमात्माका ही स्वरूप देखता है। उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय और किसीकी सत्ता नहीं रहती। उसके लिये द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—तीनों ही परमात्मस्वरूप हो जाते हैं—‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७। १९)। इसलिये जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन किया जाय, ऐसे ही उस भक्तका सब बर्ताव परमात्मामें ही होता है। जैसे शरीरमें तादात्म्यवाला व्यक्ति सब क्रिया करते हुए शरीरमें ही रहता है, ऐसे ही भक्त सब क्रिया करते हुए भी परमात्मामें ही रहता है।

आगे तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगीके लिये कहा है—‘सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते’ (१३। २३) और यहाँ भक्तके लिये कहा है—‘सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।’ तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानमार्गमें तो जन्म-मरण मिट जाता है, मुक्ति हो जाती है, पर भक्तिमार्गमें जन्म-मरण मिटकर भगवान्‌से अभिन्नता होती है, आत्मीयता होती है। इसी भावको गीतामें इस प्रकार भी कहा गया है—‘तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणशयति’ (६। ३०), ‘प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः’ (७। १७), ‘ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्’ (७। १८), ‘ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्’ (९। २९)। ज्ञानमार्गमें तो सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रहनेसे दार्शनिक मतभेद रह सकता है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌से आत्मीयता होनेपर सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध तथा उससे होनेवाला दार्शनिक मतभेद नहीं रहता। ‘न स भूयोऽभिजायते’ में स्वरूपमें स्थितिका अनुभव होनेपर केवल स्वयं (स्वरूप) रहता है और ‘स योगी मयि वर्तते’ में केवल भगवान्‌ रहते हैं, स्वयं (योगी) नहीं रहता अर्थात् स्वयं योगीरूप नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप रहता है।

सम्बन्ध—भक्त सब बर्ताव करते हुए भी मेरेमें कैसे बर्ताव करता है—यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**

**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥**

अर्जुन	= हे अर्जुन!	समम्	= समान	(भी समान
यः	= जो (भक्त)	पश्यति	= देखता है	देखता है),
आत्मौपम्येन	= अपने शरीरकी उपमासे	वा	= और	सः
सर्वत्र	= सब जगह (मुझे)	सुखम्	= सुख	= वह
		यदि, वा	= अथवा	परमः
		दुःखम्	= दुःखको	= परम
				योगी
				= योगी
				मतः
				= माना गया है।

**व्याख्या**—‘आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन’—साधारण मनुष्य जैसे अपने शरीरमें अपनी स्थिति देखता है, तो उसके शरीरके किसी अंगमें किसी तरहकी पीड़ा हो—ऐसा वह नहीं चाहता, प्रत्युत सभी अंगोंका समानरूपसे आराम चाहता है। ऐसे ही सब प्राणियोंमें भगवान्‌को समान देखनेवाला भक्त सभी प्राणियोंका समानरूपसे आराम चाहता है। उसके सामने कोई दुःखी

प्राणी आ जाय, तो अपने शरीरके किसी अंगका दुःख दूर करनेकी तरह ही उसका दुःख दूर करनेकी स्वाभाविक चेष्टा होती है। तात्पर्य है कि जैसे साधारण प्राणीकी अपने शरीरके आरामके लिये चेष्टा होती है, ऐसे ही भक्तकी दूसरोंके शरीरोंके आरामके लिये स्वाभाविक चेष्टा होती है।

‘सर्वत्र’ कहनेका तात्पर्य है कि उसके द्वारा वर्ण,

आश्रम, देश, वेश, सम्प्रदाय आदिका भेद न रखकर सबको समान रीतिसे सुख पहुँचानेकी स्वाभाविक चेष्टा होती है। ऐसे ही पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंको भी समानरीतिसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा होती है और साथ-ही-साथ उनका दुःख दूर करनेका भी स्वाभाविक उद्योग होता है।

अपने शरीरके अंगोंका दुःख दूर करनेकी समान चेष्टा होनेपर भी अंगोंमें भेद-दृष्टि तो रहती ही है और रहना आवश्यक भी है। जैसे, हाथका काम पैरसे नहीं किया जाता। अगर हाथको हाथ छू जाय तो हाथ धोनेकी जरूरत नहीं पड़ती; परन्तु पैरको हाथ छू जाय तो हाथ धोना पड़ता है। अगर मल-मूत्रके अंगोंको हाथसे साफ किया जाय, तो हाथको मिट्टी लगाकर विशेषतासे धोना, निर्मल करना पड़ता है। ऐसे ही शास्त्र और वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार सबके सुख-दुःखमें समान भाव रखते हुए भी स्पर्श-अस्पर्शका खयाल रखकर व्यवहार होना चाहिये। किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी घृणाकी सम्भावना ही नहीं होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरके पवित्र-अपवित्र अंगोंकी रक्षा करनेमें और उनको सुख पहुँचानेमें कोई कमी न रखते हुए भी शुद्धिकी दृष्टिसे उनमें स्पर्श-अस्पर्शका भेद रखते हैं। ऐसे ही शास्त्र-मर्यादाके अनुसार संसारके सभी प्राणियोंमें स्पर्श-अस्पर्शका भेद मानते हुए भी भक्तके द्वारा उनका दुःख दूर करनेकी और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती। तात्पर्य है कि जैसे अपने शरीरका कोई अंग अस्पृश्य होनेपर भी वह अप्रिय नहीं होता, ऐसे ही शास्त्रमर्यादाके अनुसार कोई प्राणी अस्पृश्य होनेपर भी उसमें प्रियता, हितैषिताकी कभी कमी नहीं होती।

**‘सुखं वा यदि वा दुःखम्’**—अपने शरीरकी उपमासे दूसरोंके सुख-दुःखमें समान रहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरोंके शरीरके किसी अंगमें पीड़ा हो जाय, तो वह पीड़ा अपने शरीरमें भी हो जाय, अपनेको भी उस पीड़ाका अनुभव हो जाय। अगर ऐसी समता ली जाय तो अपनेको दुःख ही ज्यादा होगा और दुःख मिटेगा भी नहीं; क्योंकि संसारमें दुःखी प्राणी ही ज्यादा हैं।

दूसरी बात, जैसे विरक्त त्यागी महात्मा लोग अपने शरीरकी और अपने शरीरके अंगोंमें होनेवाली पीड़ाकी उपेक्षा कर देते हैं, ऐसे ही दूसरोंके शरीरोंकी और उनके शरीरोंके अंगोंमें होनेवाली पीड़ाकी उपेक्षा हो जाय अर्थात् जैसे उनपर अपने शरीरके सुख-दुःखका असर नहीं होता,

ऐसे ही दूसरोंके सुख-दुःखका भी अपनेपर असर न हो—यह भी उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य नहीं है।

उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य है कि जैसे शरीरमें आसक्त अज्ञानी पुरुषके शरीरमें पीड़ा होनेपर उस पीड़ाको दूर करनेमें और सुख पहुँचानेमें उसकी जैसी चेष्टा होती है, तत्परता होती है, ऐसे ही दूसरोंका दुःख दूर करनेमें और सुख पहुँचानेमें भक्तकी स्वाभाविक चेष्टा होती है, तत्परता होती है।

जैसे, किसीके हाथमें चोट लग गयी और वह लोक-समुदायमें जाता है तो उस पीड़ित हाथको धक्का न लग जाय, इसलिये दूसरे हाथको सामने रखकर उस पीड़ित हाथकी रक्षा करता है और उसको धक्का न लगे, ऐसा उद्योग करता है। परन्तु उसके मनमें कभी यह अभिमान नहीं आता कि मैं इस हाथकी पीड़ा दूर करनेवाला हूँ, इसको सुख पहुँचानेवाला हूँ। वह उस हाथपर ऐसा एहसान भी नहीं करता कि देख हाथ! मैंने तेरी पीड़ा दूर करनेके लिये कितनी चेष्टा की! पीड़ाको शान्त करनेपर वह अपनेमें विशेषताका भी अनुभव नहीं करता। ऐसे ही भक्तके द्वारा दुःखी प्राणियोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है। उनके मनमें यह अभिमान नहीं आता कि मैं प्राणियोंका दुःख दूर कर रहा हूँ; दूसरोंको सुख पहुँचा रहा हूँ। उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करनेपर वे अपनेमें कोई विशेषता भी नहीं देखते। उनका स्वभाव ही दूसरोंका दुःख दूर करनेका, उनको सुख पहुँचानेका होता है।

भक्तके शरीरमें पीड़ा होती है, तो वह उसको सह सकता है और उसके द्वारा उस पीड़ाकी उपेक्षा भी हो सकती है; परन्तु दूसरेके शरीरमें पीड़ा हो तो उसको वह सह नहीं सकता। कारण कि जिसकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि है, उस भक्तके अन्तःकरणमें तो पीड़ा सहनेकी शक्ति है पर दूसरोंके अन्तःकरणमें पीड़ा सहनेकी वैसी सामर्थ्य नहीं है। अतः उनके द्वारा दूसरोंके शरीरोंकी पीड़ा दूर करनेमें विशेष तत्परता होती है। जैसे, इन्द्रने बिना किसी अपराधके दधीचि ऋषिका सिर काट दिया। पीछे अश्विनीकुमारोंने उनको पुनः जिला दिया। परन्तु जब इन्द्रका काम पड़ा, तब दधीचिने अपना शरीर छोड़कर उनको (वज्र बनानेके लिये) अपनी हड्डियाँ दे दीं।

यहाँ शंका हो सकती है कि अपने शरीरके दुःखकी तो उपेक्षा होती है और दूसरोंके दुःखकी उपेक्षा नहीं होती—यह तो विषमता हो गयी! यह समता कहाँ रही? इसका

समाधान है कि वास्तवमें यह विषमता समताकी जनक है, समताको प्राप्त करानेवाली है। यह विषमता समतासे भी ऊँचे दर्जेकी चीज है। साधक साधन-अवस्थामें ऐसी विषमता करता है, तो सिद्ध-अवस्थामें भी उसकी ऐसी ही स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु उसके अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं आती।

‘स योगी परमो मतः’—उसकी दृष्टिमें सिवाय परमात्माके कुछ नहीं रहा। वह नित्ययोग (परमात्माके नित्यसम्बन्ध) और नित्यसमतामें स्थित रहता है। कारण कि सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेसे उसका परमात्मासे कभी वियोग होता ही नहीं और वह सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियोंमें एकरूप ही रहता है। अतः वह मुझे परमयोगी मान्य है।

**परिशिष्ट भाव**—जैसे साधारण मनुष्य शरीरमें अपनेको देखता है, शरीरके किसी भी अंगकी पीड़ा न चाहकर, किसी भी अंगसे द्वेष न करके सब अंगोंको समानरूपसे अपना मानता है, ऐसे ही भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने अंशी भगवान्को देखता है और सबका दुःख दूर करने तथा सुख पहुँचानेकी समानरूपसे स्वाभाविक चेष्टा करता है। वह वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको अपनी न मानकर भगवान्की मानता है। जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन किया जाय, दीपकसे सूर्यका पूजन किया जाय, ऐसे ही भक्त भगवान्की वस्तुको भगवान्की सेवामें अर्पित करता है—‘त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये’।

जैसे शरीरके सब अंगोंसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी उनमें आत्मबुद्धि एक ही रहती है तथा उन अंगोंकी पीड़ा दूर करने तथा उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी समान ही रहती है, ऐसे ही ‘जैसा देव, वैसी पूजा’ के अनुसार ब्राह्मण और चाण्डाल, साधु और कसाई, गाय और कुत्ता आदि सबसे शास्त्रमर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी भक्तकी भगवद्बुद्धिमें तथा उनका दुःख दूर करने और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कोई अन्तर नहीं आता।

जैसे भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्माके साथ भगवान्की एकता मानता है (इसी अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक), ऐसे ही वह सब शरीरोंकी भी अपने शरीरके साथ एकता मानता है। इसलिये वह दूसरेके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होता है—‘पर दुःख दुःख सुख सुख देखे पर’ (मानस, उत्तर० ३८। १)। वह अपने शरीरके सुख-दुःखकी तरह सबके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझता है। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका तात्पर्य खुद दुःखी होना नहीं है, प्रत्युत दूसरेका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करना है। इसी तरह खुद सुखी होनेके लिये दूसरेका दुःख दूर नहीं करना है, प्रत्युत करुणा करके दूसरेको सुखी करनेकी चेष्टा करना है। तात्पर्य है कि खुद सुखका भोग नहीं करना है, प्रत्युत ‘दूसरेका दुःख दूर हो गया, वह सुखी हो गया’—इसको लेकर प्रसन्न होना है।

आँख और पैरका भेद इतना है कि आँखोंसे देखते हैं और पैरोंसे चलते हैं; आँख ज्ञानेन्द्रिय है और पैर कर्मेन्द्रिय है। इतना भेद होते हुए भी अभिन्नता इतनी है कि काँटा पैरमें लगता है, आँसू आँखोंमें आ जाते हैं और मिट्टी आँखमें पड़ती है, लड़खड़ते पैर हैं! तात्पर्य है कि हम शरीरको संसारसे और संसारको शरीरसे अलग नहीं कर सकते। इसलिये अगर हम शरीरकी परवाह करते हैं तो वैसे ही संसारकी भी परवाह करें और अगर संसारकी बेपरवाह करते हैं तो वैसे ही शरीरकी भी बेपरवाह करें। दोनों बातोंमें चाहे कोई मान लें, इसीमें ईमानदारी है!

**सम्बन्ध**—जिस समताकी प्राप्ति सांख्ययोग और कर्मयोगके द्वारा होती है, उसी समताकी प्राप्ति ध्यानयोगके द्वारा भी होती है—इसको भगवान्ने दसवें श्लोकसे उनतीसवें श्लोकतक बताया। अब अर्जुन ध्यानयोगसे प्राप्त समताको लेकर आगेके दो श्लोकोंमें अपनी मान्यता प्रकट करते हैं।

अर्जुन उवाच

**योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।  
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥**

अर्जुन बोले—

मधुसूदन = हे मधुसूदन!  
त्वया = आपने  
साम्येन = समतापूर्वक

यः = जो  
अयम् = यह  
योगः = योग

प्रोक्तः = कहा है,  
चञ्चलत्वात् = (मनकी)  
चंचलताके कारण

अहम्	= मैं	स्थिराम्	= स्थिर	न	= नहीं
एतस्य	= इस योगकी	स्थितिम्	= स्थिति	पश्यामि	= देखता हूँ।

**व्याख्या**—[ मनुष्यके कल्याणके लिये भगवान्ने गीतामें खास बात बतायी कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिको लेकर चित्तमें समता रहनी चाहिये। इस समतासे मनुष्यका कल्याण होता है। अर्जुन पापोंसे डरते थे तो उनके लिये भगवान्ने कहा कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर तुम युद्ध करो, फिर तुम्हारेको पाप नहीं लगेगा' (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। जैसे दुनियामें बहुत-से पाप होते रहते हैं, पर वे पाप हमें नहीं लगते; क्योंकि उन पापोंमें हमारी विषम-बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत समबुद्धि रहती है। ऐसे ही समबुद्धिपूर्वक सांसारिक काम करनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता। इसी भावसे भगवान्ने इस अध्यायके आरम्भमें कहा है कि जो कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। इसी कर्मफल-त्यागकी सिद्धि भगवान्ने 'समता' बतायी (छठे अध्यायका नवाँ श्लोक)। इस समताकी प्राप्तिके लिये भगवान्ने दसवें श्लोकसे बत्तीसवें श्लोकतक ध्यानयोगका वर्णन किया। इसी ध्यानयोगके वर्णनका लक्ष्य

करके अर्जुन यहाँ अपनी मान्यता प्रकट करते हैं।]

**'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन'**—यहाँ अर्जुनने जो अपनी मान्यता बतायी है, वह पूर्वश्लोकको लेकर नहीं है, प्रत्युत ध्यानके साधनको लेकर है। कारण कि बत्तीसवाँ श्लोक ध्यानयोगद्वारा सिद्ध पुरुषका है और सिद्ध पुरुषकी समता स्वतः होती है। इसलिये यहाँ 'यः' पदसे इस प्रकरणसे पहले कहे हुए योग-(समता-) का संकेत है और 'अयम्' पदसे दसवें श्लोकसे अट्ठाईसवें श्लोकतक कहे हुए ध्यानयोगके साधनका संकेत है।

**'एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्'**— इन पदोंसे अर्जुनका यह आशय मालूम देता है कि कर्मयोगसे तो समताकी प्राप्ति सुगम है, पर यहाँ जिस ध्यानयोगसे समताकी प्राप्ति बतायी है, मनकी चंचलताके कारण उस ध्यानमें स्थिर स्थिति रहना मुझे बड़ा कठिन दिखायी देता है। तात्पर्य है कि जबतक मनकी चंचलताका नाश नहीं होगा, तबतक ध्यानयोग सिद्ध नहीं होगा और ध्यानयोग सिद्ध हुए बिना समताकी प्राप्ति नहीं होगी।

**सम्बन्ध**—जिस चंचलताके कारण अर्जुन अपने मनकी दृढ़ स्थिति नहीं देखते, उस चंचलताका आगेके श्लोकमें उदाहरणसहित स्पष्ट वर्णन करते हैं।

**चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।  
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥**

हि	= कारण कि	दृढम्	= दृढ़ (जिद्दी)	स्थित)
कृष्ण	= हे कृष्ण!	बलवत्	= (और)	वायोः
मनः	= मन		बलवान् है।	इव
चञ्चलम्	= (बड़ा ही)	तस्य	= उसको	सुदुष्करम्
	चंचल,	निग्रहम्	= रोकना	
प्रमाथि	= प्रमथनशील,	अहम्	= मैं (आकाशमें)	मन्ये
				= अत्यन्त कठिन
				= मानता हूँ।

**व्याख्या**—'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्'—यहाँ भगवान्को 'कृष्ण' सम्बोधन देकर अर्जुन मानो यह कह रहे हैं कि हे नाथ! आप ही कृपा करके इस मनको खींचकर अपनेमें लगा लें, तो यह मन लग सकता है। मेरेसे तो इसका वशमें होना बड़ा कठिन है! क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल है। चंचलताके साथ-साथ यह 'प्रमाथि' भी है अर्थात् यह साधकको अपनी स्थितिसे विचलित कर देता है। यह बड़ा जिद्दी और बलवान् भी है।

भगवान्ने 'काम'-(कामना-) के रहनेके पाँच स्थान बताये हैं—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, विषय और स्वयं (गीता—तीसरे अध्यायका चालीसवाँ तथा चौतीसवाँ और दूसरे अध्यायका उनसठवाँ श्लोक)। वास्तवमें काम स्वयंमें अर्थात् चिञ्जड़-ग्रन्थिमें रहता है और इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा विषयोंमें इसकी प्रतीति होती है। काम जबतक स्वयंसे निवृत्त नहीं होता, तबतक यह काम समय-समयपर इन्द्रियों आदिमें प्रतीत होता रहता है। पर जब यह स्वयंसे निवृत्त हो



जाता है, तब इन्द्रियों आदिमें भी यह नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक स्वयंमें काम रहता है, तबतक मन साधकको व्यथित करता रहता है। अतः यहाँ मनको 'प्रमाथि' बताया गया है। ऐसे ही स्वयंमें काम रहनेके कारण इन्द्रियाँ साधकके मनको व्यथित करती रहती हैं। इसलिये दूसरे अध्यायके साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंको भी प्रमाथि बताया गया है—'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'। तात्पर्य यह हुआ कि जब कामना मन और इन्द्रियोंमें आती है, तब वह साधकको महान् व्यथित कर देती है, जिससे साधक अपनी स्थितिपर नहीं रह पाता।

उस कामके स्वयंमें रहनेके कारण मनका पदार्थके प्रति गाढ़ खिंचाव रहता है। इससे मन किसी तरह भी उनकी ओर जानेको छोड़ता नहीं, हठ कर लेता है; अतः मनको दृढ़ कहा है। मनकी यह दृढ़ता बहुत बलवती होती है; अतः मनको 'बलवत्' कहा है। तात्पर्य है कि मन बड़ा बलवान् है, जो कि साधकको जबर्दस्ती विषयोंमें ले जाता है। शास्त्रोंने तो यहाँतक कह दिया है कि मन ही मनुष्योंके मोक्ष और बन्धनमें कारण है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' परन्तु मनमें यह प्रमथनशीलता, दृढ़ता और बलवत्ता तभीतक रहती है, जबतक साधक अपनेमेंसे कामको सर्वथा निकाल

नहीं देता। जब साधक स्वयं कामरहित हो जाता है, तब पदार्थोंका, विषयोंका कितना ही संसर्ग होनेपर भी साधकपर उनका कुछ भी असर नहीं पड़ता। फिर मनकी प्रमथनशीलता आदि नष्ट हो जाती है।

मनकी चंचलता भी तभीतक बाधक होती है, जबतक स्वयंमें कुछ भी कामका अंश रहता है। कामका अंश सर्वथा निवृत्त होनेपर मनकी चंचलता किंचित्मात्र भी बाधक नहीं होती। शास्त्रकारोंने कहा है—

**देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।**

**यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम्॥**

(सरस्वतीरहस्योपनिषद् ३१)

अर्थात् देहाभिमान (जडके साथ मैं-पन) सर्वथा मिट जानेपर जब परमात्मतत्त्वका बोध हो जाता है, तब जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ परमात्मतत्त्वका अनुभव होता है अर्थात् उसकी अखण्ड समाधि (सहज समाधि) रहती है।

'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्'—इस चंचल, प्रमाथि, दृढ़ और बलवान् मनका निग्रह करना बड़ा कठिन है। जैसे आकाशमें विचरण करते हुए वायुको कोई मुट्टीमें नहीं पकड़ सकता, ऐसे ही इस मनको कोई पकड़ नहीं सकता। अतः इसका निग्रह करनेको मैं महान् दुष्कर मानता हूँ।

**परिशिष्ट भाव**—भगवान्ने उनतीसवें श्लोकमें स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया और तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकोंमें सगुण-साकार भगवान्का ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया। इन श्लोकोंमें भगवान्का आशय यह था कि सबमें आत्मदर्शन अथवा सबमें भगवद्दर्शन करना ही ध्यानयोगका अन्तिम फल है। ज्ञानके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें आत्माको और भक्तिके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें भगवान्को देखते हैं। सबमें आत्माको देखना 'आत्मज्ञान' है और सबमें भगवान्को देखना 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानमें विवेककी और परमात्मज्ञानमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है, मनकी स्थिरताकी मुख्यता नहीं है। परन्तु अर्जुनके भीतर दसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक कहे ध्यानयोगका संस्कार बैठा था; अतः उन्होंने आत्मज्ञान अथवा परमात्मज्ञान न होनेमें मनकी चंचलताको हेतु मान लिया। उनकी दृष्टि ध्यानयोगीके भीतरके ज्ञान या भक्तिके संस्कारकी तरफ नहीं गयी, प्रत्युत मनकी चंचलताकी तरफ गयी। अतः उन्होंने मनकी चंचलताको बाधक मान लिया।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें भगवान् अर्जुनकी मान्यताका अनुमोदन करते हुए मनके निग्रहके उपाय बताते हैं।

श्रीभगवानुवाच

**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।**

**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥**

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो = हे महाबाहो!  
मनः = यह मन

चलम् = बड़ा चंचल है  
(और)

दुर्निग्रहम् = इसका निग्रह  
करना भी बड़ा

कठिन है—	तु	= परन्तु	वैराग्येण	= वैराग्यके
असंशयम् = यह तुम्हारा	कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन !	द्वारा	
कहना बिलकुल	अभ्यासेन	= अभ्यास	गृह्यते	= (इसका) निग्रह
ठीक है।	च	= और		किया जाता है।

**व्याख्या—‘असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्’**—यहाँ ‘महाबाहो’ सम्बोधनका तात्पर्य शूरवीरता बतानेमें है अर्थात् अभ्यास करते हुए कभी उकताना नहीं चाहिये। अपनेमें धैर्यपूर्वक वैसी ही शूरवीरता रखनी चाहिये।

अर्जुनने पहले चंचलताके कारण मनका निग्रह करना बड़ा कठिन बताया। उसी बातपर भगवान् कहते हैं कि तुम जो कहते हो, वह एकदम ठीक बात है, निःसन्दिग्ध बात है; क्योंकि मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है।

**‘अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते’**—अर्जुनकी माता कुन्ती बहुत विवेकवती तथा भोगोंसे विरक्त रहनेवाली थीं। कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे विपत्तिका वरदान माँगा था\*। ऐसा वरदान माँगनेवाला इतिहासमें बहुत कम मिलता है। अतः यहाँ ‘कौन्तेय’ सम्बोधन देकर भगवान् अर्जुनको कुन्ती माताकी याद दिलाते हैं कि जैसे तुम्हारी माता कुन्ती बड़ी विरक्त है, ऐसे ही तुम भी संसारसे विरक्त होकर परमात्मामें लगो अर्थात् मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगाओ।

मनको बार-बार ध्येयमें लगानेका नाम ‘अभ्यास’ है। इस अभ्यासकी सिद्धि समय लगानेसे होती है। समय भी निरन्तर लगाया जाय, रोजाना लगाया जाय। कभी अभ्यास किया, कभी नहीं किया—ऐसा नहीं हो। तात्पर्य है कि अभ्यास निरन्तर होना चाहिये और अपने ध्येयमें महत्त्व तथा आदर-बुद्धि होनी चाहिये। इस तरह अभ्यास करनेसे अभ्यास दृढ़ हो जाता है।

अभ्यासके दो भेद हैं—(१) अपना जो लक्ष्य, ध्येय है, उसमें मनोवृत्तिको लगाये और दूसरी वृत्ति आ जाय अर्थात् दूसरा कुछ भी चिन्तन आ जाय, उसकी उपेक्षा कर दे, उससे उदासीन हो जाय।

(२) जहाँ-जहाँ मन चला जाय, वहाँ-वहाँ ही अपने लक्ष्यको, इष्टको देखे।

उपर्युक्त दो साधनोंके सिवाय मन लगानेके कई उपाय हैं; जैसे—

(१) जब साधक ध्यान करनेके लिये बैठे, तब सबसे पहले दो-चार श्वास बाहर फेंककर ऐसी भावना करे कि मैंने मनसे संसारको सर्वथा निकाल दिया, अब मेरा मन संसारका चिन्तन नहीं करेगा, भगवान्का ही चिन्तन करेगा और चिन्तनमें जो कुछ भी आयेगा, वह भगवान्का ही स्वरूप होगा। भगवान्के सिवाय मेरे मनमें दूसरी बात आ ही नहीं सकती। अतः भगवान्का स्वरूप वही है, जो मनमें आ जाय और मनमें जो आ जाय, वही भगवान्का स्वरूप है—यह ‘वासुदेवः सर्वम्’ का सिद्धान्त है। ऐसा होनेपर मन भगवान्में ही लगेगा; और लगेगा ही कहाँ?

(२) भगवान्के नामका जप करे, पर जपमें दो बातोंका खयाल रखे—एक तो नामके उच्चारणमें समय खाली न जाने दे अर्थात् ‘रा....म....रा....म’ इस तरह नामका भले ही धीरे-धीरे उच्चारण करे, पर बीचमें समय खाली न जाने दे और दूसरे, नामको सुने बिना न जाने दे अर्थात् जपके साथ-साथ उसको सुने भी।

(३) जिस नामका उच्चारण किया जाय, मनसे उस नामकी निगरानी रखे अर्थात् उस नामको अंगुली अथवा मालासे न गिनकर मनसे ही नामका उच्चारण करे और मनसे ही नामकी गिनती करे।

(४) एक नामका तो वाणीसे उच्चारण करे और दूसरे नामका मनसे जप करे; जैसे—वाणीसे तो ‘राम-राम-राम’ का उच्चारण करे और मनसे ‘कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण’ का जप करे।

(५) जैसे राग-रागिनीके साथ बोलकर नामका कीर्तन करते हैं, ऐसे ही राग-रागिनीके साथ मनसे नामका कीर्तन करे।

(६) चरणोंसे लेकर मुकुटतक और मुकुटसे लेकर चरणोंतक भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करे।

(७) भगवान् मेरे सामने खड़े हैं—ऐसा समझकर

\* विपदः सन्तु नः शश्वत्त्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ (श्रीमद्भा० १।८।२५)

‘हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।’

भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करे। भगवान्के दाहिने चरणकी पाँच अंगुलियोंपर मनसे ही पाँच नाम लिख दे। अंगुलियोंके ऊपरका जो भाग है, उसपर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे। चरणोंकी पिण्डीका जो आरम्भ है, उस पिण्डीकी सन्धिपर दो नामोंके कड़े बना दे। फिर पिण्डीपर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे। घुटनेके नीचे और ऊपर एक-एक नामका गोल कड़ा बना दे अर्थात् गोलाकार नाम लिख दे। ऊरु (जंघा) पर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे। आधी (दाहिने तरफकी) कमरमें दो नामोंकी करधनी बना दे। तीन नाम पसलीपर लिख दे। दो नाम कन्धेपर और तीन नाम बाजूपर (भुजाके ऊपरके भागपर) लिख दे। कोहनीके ऊपर और नीचे दो-दो नामोंका कड़ा बना दे। फिर तीन नाम (कोहनीके नीचे) पहुँचासे ऊपरके भागपर लिख दे। पहुँचामें दो नामोंका कड़ा बना दे तथा पाँच अंगुलियोंपर पाँच नाम लिख दे। गलेमें चार नामोंका आधा हार और कानमें दो नामोंका कुण्डल बना दे। मुकुटके दाहिने आधे भागपर छः नाम लिख दे अर्थात् नीचेके भागपर दो नामोंका कड़ा, मध्यभागपर दो नामोंका कड़ा और ऊपरके भागपर दो नामोंका कड़ा बना दे।

तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्के दाहिने अंगमें चरणसे लेकर मुकुटतक चौवन नाम अथवा मन्त्र आने चाहिये और बायें अंगमें मुकुटसे लेकर चरणतक चौवन नाम अथवा मन्त्र आने चाहिये। इससे भगवान्की एक परिक्रमा हो जाती है, भगवान्के सम्पूर्ण अंगोंका चिन्तन हो जाता है और एक सौ आठ नामोंकी एक माला भी हो जाती है। प्रतिदिन ऐसी कम-से-कम एक माला करनी चाहिये। इससे अधिक करना चाहें, तो अधिक भी कर सकते हैं।

इस तरह अभ्यास करनेके अनेक रूप, अनेक तरीके

हैं। ऐसे तरीके साधक स्वयं भी सोच सकता है।

अभ्यासकी सहायताके लिये 'वैराग्य' की जरूरत है। कारण कि संसारके भोगोंसे राग जितना हटेगा, मन उतना परमात्मामें लगेगा। संसारका राग सर्वथा हटनेपर मनमें संसारका रागपूर्वक चिन्तन नहीं होगा। अतः पुराने संस्कारोंके कारण कभी कोई स्फुरणा हो भी जाय, तो उसकी उपेक्षा कर दे अर्थात् उसमें न राग करे और न द्वेष करे। फिर वह स्फुरणा अपने-आप मिट जायगी। इस तरह अभ्यास और वैराग्यसे मनका निग्रह हो जाता है, मन पकड़ा जाता है।

वैराग्य होनेके कई उपाय हैं; जैसे—

१—संसार प्रतिक्षण बदलता है और स्वरूप कभी भी तथा किसी भी क्षण बदलता नहीं। अतः संसार हमारे साथ नहीं है और हम संसारके साथ नहीं हैं। जैसे, बाल्यावस्था, युवावस्था हमारे साथ नहीं रही, परिस्थिति हमारे साथ नहीं रही, आदि। ऐसा विचार करनेपर संसारसे वैराग्य होता है।

२—अपने कहलानेवाले जितने कुटुम्बी, सम्बन्धी हैं, वे हमारेसे अनुकूलताकी इच्छा रखते हैं तो अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, समझके अनुसार उनकी न्याययुक्त इच्छा पूरी कर दे और परिश्रम करके उनकी सेवा कर दे; परन्तु उनसे अपनी अनुकूलताकी तथा कुछ लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दे। इस तरह अपनी सामर्थ्यके अनुसार वस्तु देनेसे और परिश्रम करके सेवा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और उनसे कुछ भी न चाहनेसे नया राग पैदा नहीं होता। इससे स्वाभाविक संसारसे वैराग्य हो जाता है।

३—जितने भी दोष, पाप, दुःख पैदा होते हैं, वे सभी संसारके रागसे ही पैदा होते हैं और जितना सुख, शान्ति मिलती है, वह सब राग-रहित होनेसे ही मिलती है। ऐसा विचार करनेसे वैराग्य हो ही जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अभ्यास और वैराग्यद्वारा मनके निग्रहकी बात कहकर अब आगेके श्लोकमें भगवान् ध्यानयोगकी प्राप्तिमें अन्वय-व्यतिरेकसे अपना मत बताते हैं।

**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।**

**वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥**

असंयतात्मना = जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा  
योगः = योग  
दुष्प्रापः = प्राप्त होना कठिन है।

तु = परन्तु  
उपायतः = उपायपूर्वक  
यतता = यत्न करनेवाले (तथा)  
वश्यात्मना = वशमें किये हुए मनवाले

साधकको  
अवाप्तुम् = (योग) प्राप्त हो  
शक्यः = सकता है,  
इति = ऐसा  
मे = मेरा  
मतिः = मत है।

**व्याख्या—‘असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः’**—मेरे मतमें तो जिसका मन वशमें नहीं है; उसके द्वारा योग सिद्ध होना कठिन है। कारण कि योगकी सिद्धिमें मनका वशमें न होना जितना बाधक है, उतनी मनकी चंचलता बाधक नहीं है। जैसे, पतिव्रता स्त्री मनको वशमें तो रखती है, पर उसे एकाग्र नहीं करती। अतः ध्यानयोगीको अपना मन वशमें करना चाहिये। मन वशमें होनेपर वह मनको जहाँ लगाना चाहे, वहाँ लगा सकता है, जितनी देर लगाना चाहे, उतनी देर लगा सकता है और जहाँसे हटाना चाहे, वहाँसे हटा सकता है।

प्रायः साधकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे साधन तो श्रद्धा-पूर्वक करते हैं, पर उनके प्रयत्नमें शिथिलता रहती है, जिससे साधकमें संयम नहीं रहता अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणका पूर्णतया संयम नहीं होता। इसलिये योगकी प्राप्तिमें कठिनता होती है अर्थात् परमात्मा सदा-सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी जल्दी प्राप्त नहीं होते।

भगवान्की तरफ चलनेवाले, वैष्णव संस्कारवाले साधकोंकी मांस आदिमें जैसी अरुचि होती है, वैसी अरुचि साधककी विषय-भोगोंमें नहीं होती अर्थात् विषय-भोग उतने निषिद्ध और पतन करनेवाले नहीं दीखते। कारण कि विषयभोगोंका ज्यादा अभ्यास होनेसे उनमें मांस आदिकी तरह ग्लानि नहीं होती। मांस आदि सर्वथा निषिद्ध वस्तु खानेसे पतन तो होता ही है, पर उससे भी ज्यादा पतन होता है—रागपूर्वक विषयभोगोंको भोगनेसे। कारण कि मांस आदिमें तो ‘यह निषिद्ध वस्तु है’ ऐसी भावना रहती है, पर भोगोंको भोगनेसे ‘यह निषिद्ध है’ ऐसी भावना नहीं रहती। इसलिये भोगोंके जो संस्कार भीतर बैठ जाते हैं, वे बड़े भयंकर होते हैं। तात्पर्य है कि मांस आदि खानेसे जो पाप लगता है, वह दण्ड भोगकर नष्ट हो जायगा। वह पाप आगे नये पापोंमें नहीं लगायेगा। परन्तु रागपूर्वक विषयभोगोंका सेवन करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरतक विषयभोगोंमें और उनकी रुचिके परिणामस्वरूप पापोंमें लगाते रहेंगे।

तात्पर्य है कि साधकके अन्तःकरणमें विषयभोगोंकी रुचि रहनेके कारण ही वह संयतात्मा नहीं हो पाता, मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें नहीं कर पाता। इसलिये उसको योगकी प्राप्तिमें अर्थात् ध्यानयोगकी सिद्धिमें कठिनता होती है।

**‘वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः’**—परन्तु जो तत्परतापूर्वक साधनमें लगा हुआ है अर्थात् जो

ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये ध्यानयोगके उपयोगी आहार-विहार, सोना-जागना आदि उपायोंका अर्थात् नियमोंका नियतरूपसे और दृढ़तापूर्वक पालन करता है और जिसका मन सर्वथा वशमें है, ऐसे वश्यात्मा साधकके द्वारा योग प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् उसको ध्यानयोगकी सिद्धि मिल सकती है, ऐसा मेरा मत है—**‘इति मे मतिः।’**

वश्यात्मा होनेका उपाय है—सबसे पहले अपने-आपको यह समझे कि ‘मैं भोगी नहीं हूँ। मैं जिज्ञासु हूँ तो केवल तत्त्वको जानना ही मेरा काम है; मैं भगवान्का हूँ तो केवल भगवान्के अर्पित होना ही मेरा काम है; मैं सेवक हूँ तो केवल सेवा करना ही मेरा काम है। किसीसे कुछ भी चाहना मेरा काम नहीं है’—इस तरह अपनी अहंताका परिवर्तन कर दिया जाय तो मन बहुत जल्दी वशमें हो जाता है।

जब मन शुद्ध हो जाता है, तब वह स्वतः वशमें हो जाता है। मनमें उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका राग रहना ही मनकी अशुद्धि है। जब साधकका एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य हो जाता है, तब उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका राग हट जाता है और मन शुद्ध हो जाता है।

व्यवहारमें साधक यह सावधानी रखे कि कभी किसी अंशमें पराया हक न आ जाय; क्योंकि पराया हक लेनेसे मन अशुद्ध हो जाता है। कहीं नौकरी, मजदूरी करे, तो जितने पैसे मिलते हैं, उससे अधिक काम करे। व्यापार करे तो वस्तुका तौल, नाप या गिनती औरोंकी अपेक्षा ज्यादा भले ही हो जाय, पर कम न हो। मजदूर आदिको पैसे दे तो उसके कामके जितने पैसे बनते हों, उससे कुछ अधिक पैसे उसे दे। इस प्रकार व्यवहार करनेसे मन शुद्ध हो जाता है।

### मार्मिक बात

ध्यानयोगमें अर्जुनने मनकी चंचलताको बाधक माना और उसको रोकना वायुको रोकनेकी तरह असम्भव बताया। इसपर भगवान्ने मनके निग्रहके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बताये। इन दोनोंमें भी ध्यान-योगके लिये ‘अभ्यास’ मुख्य है (गीता—छठे अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)। ‘वैराग्य’ ज्ञानयोगके लिये विशेष उपयोगी होता है। यद्यपि वैराग्य ध्यानयोगमें भी सहायक है, तथापि ध्यानयोगमें रागके रहते हुए भी मनको रोका जा सकता है। अगर यह कहा जाय कि रागके रहते हुए मन

नहीं रुकता, तो एक आपत्ति आती है। पातंजलयोगदर्शनके अनुसार चित्त-वृत्तियोंका निरोध अभ्याससे ही हो सकता है। अगर उसमें वैराग्य ही कारण हो, तो सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होगी? (जिसका वर्णन पातंजलयोगदर्शनके विभूतिपादमें किया गया है।) तात्पर्य है कि अगर भीतर राग रहते हुए चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तो उसमें रागके कारणसे सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। कारण कि संयम ( धारणा, ध्यान और समाधि) किसी-न-किसी सिद्धिके लिये किया जाता है और जहाँ सिद्धिका उद्देश्य है, वहाँ रागका अभाव कैसे हो सकता है? परन्तु जहाँ केवल परमात्मतत्त्वका उद्देश्य होता है, वहाँ ये धारणा, ध्यान और समाधि भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक हो जाते हैं।

एकाग्रताके बाद जब चित्तकी निरुद्ध-अवस्था आती है, तब समाधि होती है। समाधि कारणशरीरमें होती है और समाधिसे भी व्युत्थान होता है। जबतक समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ हैं, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तो सहजावस्था होती है, जिससे व्युत्थान होता ही नहीं। अतः चित्तकी चंचलताको रोकनेके विषयमें भगवान् ज्यादा नहीं

बोले; क्योंकि चित्तको निरुद्ध करना भगवान्का ध्येय नहीं है अर्थात् भगवान्ने जिस ध्यानका वर्णन किया है, वह ध्यान साधन है, ध्येय नहीं। भगवान्के मतमें संसारमें जो राग है, यही खास बाधा है और इसको दूर करना ही भगवान्का उद्देश्य है। ध्यान तो एक शक्ति है, एक पूँजी है, जिसका लौकिक-पारलौकिक सिद्धियों आदिमें सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

स्वयं केवल परमात्मतत्त्वको चाहता है, तो उसको मनको एकाग्र करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता प्रकृतिके कार्य मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी, मनसे अपनापन हटानेकी है। अतः जब समाधिसे भी उपरति हो जाती है, तब सर्वातीत तत्त्वकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य है कि जबतक समाधि-अवस्थाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक उसमें एक आकर्षण रहता है। जब वह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब उसमें आकर्षण न रहकर सच्चे जिज्ञासुको उससे उपरति हो जाती है। उपरति होनेसे अर्थात् अवस्थामात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे अवस्थातीत चिन्मय-तत्त्वकी अनुभूति स्वतः हो जाती है। यही योगकी सिद्धि है। चिन्मय-तत्त्वके साथ स्वयंका नित्ययोग अर्थात् नित्य-सम्बन्ध है।

**परिशिष्ट भाव**—वास्तवमें ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये मनका निग्रह करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना उसको वशमें करना अर्थात् शुद्ध करना आवश्यक है। शुद्ध करनेका तात्पर्य है—मनमें विषयोंका राग न रहना। जिसने अपने मनको शुद्ध कर लिया है, उसका ध्यानयोग प्रयत्न करनेपर सिद्ध हो जाता है।

भगवान्ने इकतीसवें श्लोकमें 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः' पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—भगवद्बुद्धि न होना और बत्तीसवें श्लोकमें 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन' पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—राग-द्वेष होना। परन्तु अर्जुनने भूलसे मनकी चंचलताको बाधक समझ लिया! वास्तवमें मनकी चंचलता बाधक नहीं है, प्रत्युत सबमें भगवद्बुद्धि न होना और राग-द्वेष होना बाधक है। जबतक राग-द्वेष रहते हैं, तबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती और जबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती अर्थात् भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होता।

वृत्तिका निरोध करनेसे वृत्तिकी सत्ता आती है; क्योंकि वृत्तिकी सत्ता स्वीकार की है, तभी तो निरोध करते हैं। स्वरूपमें कोई वृत्ति नहीं है। अतः वृत्तिका निरोध करनेसे कुछ कालके लिये मनका निरोध होगा, फिर व्युत्थान हो जायगा। अगर दूसरी सत्ताकी मान्यता ही न रहे, तो फिर व्युत्थानका प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। कारण कि दूसरी सत्ता न हो तो मन है ही नहीं!

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने कहा कि जिसका अन्तःकरण पूरा वशमें नहीं है अर्थात् जो शिथिल प्रयत्नवाला है, उसको योगकी प्राप्तिमें कठिनता होती है। इसपर अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	= हे कृष्ण!	अन्त समयमें अगर)	योगसिद्धिको
श्रद्धया, उपेतः	= जिसकी साधनमें श्रद्धा है,	योगात् = योगसे	अप्राप्य = प्राप्त न करके
अयतिः	= पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, (वह	चलितमानसः = विचलितमना हो जाय (तो)	काम् = किस
		योगसंसिद्धिम् = (वह)	गतिम् = गतिको
			गच्छति = चला जाता है ?

**व्याख्या—**‘अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित-मानसः’—जिसकी साधनमें अर्थात् जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदिमें रुचि है, श्रद्धा है और उनको करता भी है, पर अन्तःकरण और बहिःकरण वशमें न होनेसे साधनमें शिथिलता है, तत्परता नहीं है। ऐसा साधक अन्तसमयमें संसारमें राग रहनेसे, विषयोंका चिन्तन होनेसे अपने साधनसे विचलित हो जाय, अपने ध्येयपर स्थिर न रहे तो फिर उसकी क्या गति होती है ?

‘अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति’—विषयासक्ति, असावधानीके कारण अन्तकालमें जिसका मन विचलित हो गया अर्थात् साधनासे हट गया और इस कारण उसको योगकी संसिद्धि—परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई तो फिर वह किस गतिको प्राप्त होता है ?

**परिशिष्ट भाव—**करणसापेक्ष साधनमें मनको साथ लेकर स्वरूपमें स्थिति होती है—‘यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते’ (गीता ६।१८)। अतः मनके साथ सम्बन्ध रहनेसे विचलितमना होकर योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। करणको अपना माननेसे ही करणसापेक्ष साधन होता है। ध्यानयोगी मन (करण)—को अपना मानकर उसको परमात्मामें लगाता है। मन लगानेसे ही वह योगभ्रष्ट होता है। अतः योगभ्रष्ट होनेमें करणसापेक्षता कारण है। यह करणसापेक्षता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही साधनोंमें नहीं है।

ध्यानयोगीका पुनर्जन्म होता है—मनके विचलित होनेसे अर्थात् अपने साधनसे भ्रष्ट होनेसे, पर कर्मयोगी अथवा ज्ञानयोगीका पुनर्जन्म होता है—सांसारिक आसक्ति रहनेसे। भक्तियोगमें भगवान्का आश्रय रहनेसे भगवान् अपने भक्तकी विशेष रक्षा करते हैं—‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’ (गीता ९।२२), ‘मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि’ (गीता १८।५८)।

**कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।**

**अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥**

महाबाहो	= हे महाबाहो !	विमूढः	= मोहित अर्थात् विचलित	कच्चित्	= क्या
अप्रतिष्ठः	= संसारके आश्रयसे रहित (और)	उभयविभ्रष्टः	= (—इस तरह) दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक	छिन्नाभ्रम्	= छिन्न-भिन्न बादलकी
ब्रह्मणः	= परमात्मप्राप्तिके			इव	= तरह
पथि	= मार्गमें			न, नश्यति	= नष्ट तो नहीं हो जाता ?

**व्याख्या—**[ अर्जुनने पूर्वोक्त श्लोकमें ‘कां गतिं कृष्ण गच्छति’ कहकर जो बात पूछी थी, उसीका इस श्लोकमें खुलासा पूछते हैं । ]

‘अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि’—वह

सांसारिक प्रतिष्ठा-(स्थिति-) से तो जानकर रहित हुआ है अर्थात् उसने संसारके सुख-आराम, आदर-सत्कार, यश-प्रतिष्ठा आदिकी कामना छोड़ दी है, इनको प्राप्त करनेका उसका उद्देश्य ही नहीं रहा है। इस तरह संसारका आश्रय छोड़कर वह परमात्मप्राप्तिके मार्गपर चला; पर जीवित-अवस्थामें परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई और अन्तसमयमें साधनसे विचलित हो गया अर्थात् परमात्माकी स्मृति नहीं रही।

‘कच्चिनोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति’—ऐसा वह दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ अर्थात् सांसारिक और पारमार्थिक—दोनों उन्नतियोंसे रहित हुआ साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? तात्पर्य है कि जैसे किसी बादलके टुकड़ेने अपने बादलको तो छोड़ दिया और दूसरे बादलतक वह पहुँचा नहीं, वायुके कारण बीचमें ही छिन्न-भिन्न हो गया। ऐसे ही साधकने संसारके आश्रयको तो छोड़ दिया और अन्तसमयमें परमात्माकी स्मृति नहीं रही, फिर वह नष्ट तो नहीं हो जाता? उसका पतन तो नहीं हो जाता?

बादलका दृष्टान्त यहाँ पूरा नहीं बैठता। कारण कि वह बादलका टुकड़ा जिस बादलसे चला, वह बादल और जिसके पास जा रहा था, वह बादल तथा वह स्वयं (बादलका टुकड़ा)—ये तीनों एक ही जातिके हैं अर्थात् तीनों ही जड़ हैं। परन्तु जिस साधकने संसारको छोड़ा, वह संसार और जिसकी प्राप्तिके लिये चला वह परमात्मा तथा वह स्वयं (साधक)—ये तीनों एक जातिके नहीं हैं। इन तीनोंमें संसार जड़ है और परमात्मा तथा स्वयं चेतन हैं। इसलिये ‘पहला आश्रय छोड़ दिया और दूसरा प्राप्त नहीं हुआ’—इस विषयमें ही उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक बैठता है।

इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका आशय यह है कि साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे जीवका अभाव तो कभी हो ही नहीं सकता। अगर इसके भीतर संसारका उद्देश्य होता, संसारका आश्रय होता, तो यह स्वर्ग आदि लोकोंमें अथवा नरकोंमें तथा पशु-पक्षी आदि आसुरी योनियोंमें चला जाता, पर रहता तो संसारमें ही है। उसने संसारका आश्रय छोड़ दिया और उसका उद्देश्य केवल परमात्मप्राप्ति

हो गया, पर प्राणोंके रहते-रहते परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई और अन्तकालमें किसी कारणसे उस उद्देश्यके अनुसार साधनमें स्थिति भी नहीं रही, परमात्मचिन्तन भी नहीं रहा, तो वह वहाँसे भी भ्रष्ट हो गया। ऐसा साधक किस गतिको जायगा?

### विशेष बात

अगर इस श्लोकमें ‘परमात्माकी प्राप्तिसे और साधनसे भ्रष्ट (च्युत) हुआ’—ऐसा अर्थ लिया जाय, तो ऐसा कहना यहाँ बन ही नहीं सकता। कारण कि आगे जो बादलका दृष्टान्त दिया है, वह उपर्युक्त अर्थके साथ ठीक नहीं बैठता। बादलका टुकड़ा एक बादलको छोड़कर दूसरे बादलकी तरफ चला, पर दूसरे बादलतक पहुँचनेसे पहले बीचमें ही वायुसे छिन्न-भिन्न हो गया। इस दृष्टान्तमें स्वयं बादलके टुकड़ेने ही पहले बादलको छोड़ा है अर्थात् अपनी पहली स्थितिको छोड़ा है और आगे दूसरे बादलतक पहुँचा नहीं, तभी वह उभयभ्रष्ट हुआ है। परन्तु साधकको तो अभी परमात्माकी प्राप्ति हुई ही नहीं, फिर उसको परमात्माकी प्राप्तिसे भ्रष्ट (च्युत) होना कैसे कहा जाय?

दूसरी बात, साध्यकी प्राप्ति होनेपर साधक साध्यसे कभी च्युत हो ही नहीं सकता अर्थात् किसी भी परिस्थितिमें वह साध्यसे अलग नहीं हो सकता, उसको छोड़ नहीं सकता। अतः उसको साध्यसे च्युत कहना बनता ही नहीं। हाँ, अन्तसमयमें स्थिति न रहनेसे, परमात्माकी स्मृति न रहनेसे उसको ‘साधनभ्रष्ट’ तो कह सकते हैं, पर ‘उभयभ्रष्ट’ नहीं कह सकते। अतः यहाँ बादलके दृष्टान्तके अनुसार वही उभयभ्रष्ट लेना युक्तिसंगत बैठता है, जिसने संसारके आश्रयको जानकर ही अपनी ओरसे छोड़ दिया और परमात्माकी प्राप्तिके लिये चला, पर अन्तसमयमें किसी कारणसे परमात्माकी याद नहीं रही, साधनसे विचलितमना हो गया। इस तरह संसार और साधन—दोनोंमें उसकी स्थिति न रहनेसे ही वह उभयभ्रष्ट हुआ है। अर्जुनने भी सैंतीसवें श्लोकमें ‘योगाच्चलितमानसः’ कहा है और इस (अड़तीसवें) श्लोकमें ‘अप्रतिष्ठः’, ‘विमूढो ब्रह्मणः पथि’ और ‘छिन्नाभ्रमिव’ कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि उसने संसारको छोड़ दिया और परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे विचलित हो गया, मोहित हो गया।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त सन्देहको दूर करनेके लिये अर्जुन आगेके श्लोकमें भगवान्से प्रार्थना करते हैं।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।  
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

कृष्ण	= हे कृष्ण!	छेत्तुम्	= छेदन करनेके लिये	छेत्ता	= छेदन करनेवाला
मे	= मेरे	अर्हसि	= (आप ही)योग्य हैं;	त्वदन्यः	= आपके सिवाय
एतत्	= इस	हि	= क्योंकि		दूसरा
संशयम्	= सन्देहका	अस्य	= इस	न, उपपद्यते	= कोई हो नहीं
अशेषतः	= सर्वथा	संशयस्य	= संशयका		सकता।

व्याख्या—‘एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः’— परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे साधक पापकर्मोंसे तो सर्वथा रहित हो गया, इसलिये वह नरकोंमें तो जा ही नहीं सकता और स्वर्गका ध्येय न रहनेसे स्वर्गमें भी जा नहीं सकता। मनुष्ययोनिमें आनेका उसका उद्देश्य नहीं है, इसलिये वह उसमें भी नहीं आ सकता और परमात्मप्राप्तिके साधनसे भी विचलित हो गया। ऐसा साधक क्या छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? यह मेरा संशय है।

‘त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते’—इस संशयका सर्वथा छेदन करनेवाला अन्य कोई हो नहीं सकता। इसका तात्पर्य है कि शास्त्रकी कोई गुत्थी हो, शास्त्रका कोई गहन विषय हो, कोई ऐसी कठिन पंक्ति हो, जिसका अर्थ न लगता हो, तो उसको शास्त्रोंका ज्ञाता

कोई विद्वान् भी समझा सकता है। परन्तु योगभ्रष्टकी क्या गति होती है? इसका उत्तर वह नहीं दे सकता। हाँ, योगी कुछ हदतक इसको जान सकता है, पर वह सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति-आगतिको अर्थात् जाने और आनेको नहीं जान सकता; क्योंकि वह ‘युंजान योगी’ है अर्थात् अभ्यास करके योगी बना है। अतः वह वहींतक जान सकता है, जहाँतक उसकी जाननेकी हद है। परन्तु आप तो ‘युक्त योगी’ हैं अर्थात् आप बिना अभ्यास, परिश्रमके सर्वत्र सब कुछ जाननेवाले हैं। आपके समान जानकार कोई हो सकता ही नहीं। आप साक्षात् भगवान् हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति-आगतिको जाननेवाले हैं\*। अतः इस योगभ्रष्टके गतिविषयक प्रश्नका उत्तर आप ही दे सकते हैं। आप ही मेरे इस संशयको दूर कर सकते हैं।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास था, तभी यहाँ वे योगभ्रष्टकी गतिके विषयमें प्रश्न करते हैं और कहते हैं कि इस बातको आपके सिवाय दूसरा कोई बता नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास होनेके कारण ही उन्होंने एक अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान्को ही स्वीकार किया था!

सम्बन्ध—अड़तीसवें श्लोकमें अर्जुनने शंका की थी कि संसारसे और साधनसे च्युत हुए साधकका कहीं पतन तो नहीं हो जाता? उसका समाधान करनेके लिये भगवान् आगेका श्लोक कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।  
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	न	= न तो	(और)
तस्य	= उसका	इह	= इस लोकमें	न = न

\* उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

( विष्णुपुराण ६।५।७८; नारदपुराण, पूर्व० ४६।२१ )

‘जो सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयको, गति और आगतिको एवं विद्या और अविद्याको जानता है, वही भगवान् कहलानेयोग्य है।’



अमुत्र	= परलोकमें	हि	= क्योंकि	कश्चित्	= कोई भी मनुष्य
एव	= ही	तात	= हे प्यारे!	दुर्गतिम्	= दुर्गतिको
विनाशः	= विनाश	कल्याणकृत्	= कल्याणकारी काम	न	= नहीं
विद्यते	= होता है;		करनेवाला	गच्छति	= जाता।

व्याख्या—[जिसको अन्तकालमें परमात्माका स्मरण नहीं होता, उसका कहीं पतन तो नहीं हो जाता—इस बातको लेकर अर्जुनके हृदयमें बहुत व्याकुलता है। यह व्याकुलता भगवान्से छिपी नहीं है। अतः भगवान् अर्जुनके 'कां गतिं कृष्ण गच्छति'—इस प्रश्नका उत्तर देनेसे पहले ही अर्जुनके हृदयकी व्याकुलता दूर करते हैं।]

'पार्थ नैवेह नामत्र विनाशस्तस्य विद्यते'—हे पृथानन्दन! सच्चे हृदयसे साधन करनेवाले मनुष्यका न तो इस जन्ममें पतन होता है और न मरनेके बाद ही पतन होता है (गीता—छठे अध्यायके इकतालीसवेंसे पैंतालीसवें श्लोकतक)। तात्पर्य है कि उसकी योगमें जितनी स्थिति बन चुकी है, उससे नीचे वह नहीं गिरता। उसकी साधन-सामग्री नष्ट नहीं होती। उसका पारमार्थिक उद्देश्य नहीं बदलता। जैसे अनादिकालसे वह जन्मता-मरता रहा है, ऐसे ही आगे भी जन्मता-मरता रहे—उसका यह पतन नहीं होता।

जैसे भरत मुनि भारतवर्षका राज्य छोड़कर एकान्तमें तप करते थे। वहाँ दयापरवश होकर वे हरिणके बच्चेमें आसक्त हो गये, जिससे दूसरे जन्ममें उनको हरिण बनना पड़ा। परन्तु उन्होंने जितना त्याग, तप किया था, उनकी जितनी साधनकी पूँजी इकट्ठी हुई थी, वह उस हरिणके जन्ममें भी नष्ट नहीं हुई। उनको हरिणके जन्ममें भी पूर्वजन्मकी बात याद थी, जो कि मनुष्यजन्ममें भी नहीं रहती। अतः वे (हरिण-जन्ममें) बचपनसे ही अपनी माँके साथ नहीं रहे। वे हरे पत्ते न खाकर सूखे पत्ते खाते थे। तात्पर्य यह है कि अपनी स्थितिसे न गिरनेके कारण हरिणके जन्ममें भी उनका पतन नहीं हुआ (श्रीमद्भागवत, पाँचवाँ स्कन्ध, सातवाँ-आठवाँ अध्याय)। इसी तरहसे पहले मनुष्यजन्ममें जिनका स्वभाव सेवा करनेका, जप-ध्यान करनेका रहा है और विचार अपना उद्धार करनेका रहा है, वे किसी कारणवश अन्तसमयमें योगभ्रष्ट हो जायँ तथा इस लोकमें पशु-पक्षी भी बन जायँ, तो भी उनका वह अच्छा स्वभाव और सत्संस्कार नष्ट नहीं होते। ऐसे बहुत-से उदाहरण आते हैं कि कोई दूसरे जन्ममें हाथी, ऊँट आदि बन गये, पर उन योनियोंमें भी वे भगवान्की कथा सुनते थे। एक जगह कथा होती थी, तो एक काला कुत्ता आकर वहाँ बैठता और कथा सुनता। जब कीर्तन

करते हुए कीर्तन-मण्डली घूमती, तो उस मण्डलीके साथ वह कुत्ता भी घूमता था। यह हमारी देखी हुई बात है।

'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति'—भगवान्ने इस श्लोकके पूर्वार्धमें अर्जुनके लिये 'पार्थ' सम्बोधन दिया, जो आत्मीय-सम्बन्धका द्योतक है। अर्जुनके सब नामोंमें भगवान्को यह 'पार्थ' नाम बहुत प्यारा था। अब उत्तरार्धमें उससे भी अधिक प्यारभरे शब्दोंमें भगवान् कहते हैं कि 'हे तात! कल्याणकारी कार्य करनेवालेकी दुर्गति नहीं होती।' यह 'तात' सम्बोधन गीताभरमें एक ही बार आया है, जो अत्यधिक प्यारका द्योतक है।

इस श्लोकमें भगवान्ने मात्र साधकके लिये बहुत आश्वासनकी बात कही है कि जो कल्याणकारी काम करनेवाला है अर्थात् किसी भी साधनसे सच्चे हृदयसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना चाहता है, ऐसे किसी भी साधककी दुर्गति नहीं होती।

उसकी दुर्गति नहीं होती—यह कहनेका तात्पर्य है कि जो मनुष्य कल्याणकारी कार्यमें लगा हुआ है अर्थात् जिसके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उस अपने असली काममें लगा हुआ है तथा सांसारिक भोग और संग्रहमें आसक्त नहीं है, वह चाहे किसी मार्गसे चले, उसकी दुर्गति नहीं होती। कारण कि उसका ध्येय चिन्मय-तत्त्व में (परमात्मा) हैं; अतः उसका पतन नहीं होता। उसकी रक्षा मैं करता ही रहता हूँ, फिर उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है?

मेरी दृष्टि स्वतः प्राणिमात्रके हितमें रहती है। जो मनुष्य मेरी तरफ चलता है, अपना परमहित करनेके लिये उद्योग करता है, वह मुझे बहुत प्यारा लगता है; क्योंकि वास्तवमें वह मेरा ही अंश है, संसारका नहीं। उसका वास्तविक सम्बन्ध मेरे साथ ही है। संसारके साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। उसने मेरे साथ इस वास्तविक सम्बन्धको, असली लक्ष्यको पहचान लिया, तो फिर उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है? उसका किया हुआ साधन भी नष्ट कैसे हो सकता है? हाँ, कभी-कभी देखनेमें वह मोहित हुआ-सा दीखता है, उसका साधन छूटा हुआ-सा दीखता है; परन्तु ऐसी परिस्थिति उसके अभिमानके कारण ही उसके सामने आती है। मैं भी उसको चेतानेके लिये, उसका अभिमान दूर

करनेके लिये ऐसी घटना घटा देता हूँ, जिससे वह व्याकुल हो जाता है और मेरी तरफ तेजीसे चल पड़ता है। जैसे, गोपियोंका अभिमान (मद) देखकर मैं रासमें ही अन्तर्धान हो गया, तो सब गोपियाँ घबरा गयीं! जब वे विशेष व्याकुल हो गयीं, तब मैं उन गोपियोंके समुदायके बीचमें ही प्रकट हो गया और उनके पूछनेपर मैंने कहा—‘**मया परोक्षं भजता तिरोहितम्**’ (श्रीमद्भा० १०। ३२। २१) अर्थात् तुमलोगोंका भजन करता हुआ ही मैं अन्तर्धान हुआ था। तुमलोगोंकी याद और तुमलोगोंका हित मेरेसे छूटा नहीं है। इस प्रकार मेरे हृदयमें साधन करनेवालोंका बहुत बड़ा स्थान है। इसका कारण यह है कि अनन्त जन्मोंसे भूला हुआ यह प्राणी जब केवल मेरी तरफ लगता है, तब वह मेरेको बहुत प्यारा लगता है; क्योंकि उसने अनेक योनियोंमें बहुत दुःख पाया है और अब वह सन्मार्गपर आ गया है। जैसे माता अपने छोटे बच्चेकी रक्षा, पालन और हित करती रहती है, ऐसे ही मैं उस साधकके साधन और उसके हितकी रक्षा करते हुए उसके साधनकी वृद्धि करता रहता हूँ।

तात्पर्य यह हुआ कि जिसके भीतर एक बार साधनके संस्कार पड़ गये हैं, वे संस्कार फिर कभी नष्ट नहीं होते। कारण कि उस परमात्माके लिये जो काम किया जाता है, वह ‘सत्’ हो जाता है—‘**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते**’ (गीता १७। २७) अर्थात् उसका अभाव नहीं होता—‘**नाभावो विद्यते सतः**’ (गीता २। १६)। इसी बातको भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि कल्याणकारी काम करनेवाले किसी भी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती। उसके जितने सद्भाव बने हैं, जैसा स्वभाव बना है, वह प्राणी किसी कारणवशात् किसी भी योनिमें चला जाय अथवा किसी भी परिस्थितिमें पड़ जाय, तो भी वे सद्भाव उसका कल्याण करके ही छोड़ेंगे। अगर वह किसी कारणसे किसी नीच योनिमें भी चला जाय, तो वहाँ भी अपने सजातीय

योनिवालोंकी अपेक्षा उसके स्वभावमें फर्क रहेगा।<sup>१</sup>

यहाँ शंका हो सकती है कि अजामिल-जैसा शुद्ध ब्राह्मण भी वेश्यागामी हो गया, बिल्वमंगल भी चिन्तामणि नामकी वेश्याके वशमें हो गये, तो इनका इस जीवित-अवस्थामें ही पतन कैसे हो गया? इसका समाधान यह है कि लोगोंको तो उनका पतन हो गया—ऐसा दीखता है, पर वास्तवमें उनका पतन नहीं हुआ है; क्योंकि अन्तमें उनका उद्धार ही हुआ है। अजामिलको लेनेके लिये भगवान्के पार्षद आये और बिल्वमंगल भगवान्के भक्त बन गये। इस प्रकार वे पहले भी सदाचारी थे और अन्तमें भी उनका उद्धार हो गया, केवल बीचमें ही उनकी दशा अच्छी नहीं रही। तात्पर्य यह हुआ कि किसी कुसंगसे, किसी विघ्न-बाधासे, किसी असावधानीसे उसके भाव और आचरण गिर सकते हैं और ‘मैं कौन हूँ, मैं क्या कर रहा हूँ, मुझे क्या करना चाहिये’—ऐसी विस्मृति होकर वह संसारके प्रवाहमें बह सकता है। परन्तु पहलेकी साधनावस्थामें वह जितना साधन कर चुका है, उसका संसारके साथ जितना सम्बन्ध टूट चुका है, उतनी पूँजी तो उसकी वैसी-की-वैसी ही रहती है अर्थात् वह कभी किसी अवस्थामें छूटती नहीं, प्रत्युत उसके भीतर सुरक्षित रहती है। उसको जब कभी अच्छा संग मिलता है अथवा कोई बड़ी आफत आती है तो वह भीतरका भाव प्रकट हो जाता है और वह भगवान्की ओर तेजीसे लग जाता है<sup>२</sup>। हाँ, साधनमें बाधा पड़ जाना, भाव और आचरणोंका गिरना तथा परमात्मप्राप्तिमें देरी लगना—इस दृष्टिसे तो उसका पतन हुआ ही है। अतः उपर्युक्त उदाहरणोंसे साधकको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमें हर समय सावधान रहना है, जिससे हम कहीं कुसंगमें न पड़ जायँ, कहीं विषयोंके वशीभूत होकर अपना साधन न छोड़ दें और कहीं विपरीत कामोंमें न चले जायँ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको आश्वासन दिया कि किसी भी साधकका पतन नहीं होता और वह दुर्गतिमें नहीं जाता। अब भगवान् अर्जुनद्वारा सैंतीसवें श्लोकमें किये गये प्रश्नके अनुसार योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन करते हैं।

**प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।  
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥**

१-जिसका स्वभाव अच्छा बन गया है, जिसके भीतर सद्भाव हैं, वह किसी नीच योनिमें साँप, बिच्छू आदि नहीं बन सकता। कारण कि उसका स्वभाव साँप, बिच्छू आदि योनियोंके अनुरूप नहीं है और वह उन योनियोंके अनुरूप काम भी नहीं कर सकता।

२-बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं। (मानस १। ३। ५)

योगभ्रष्टः	= (वह) योगभ्रष्ट	प्राप्य	= प्राप्त होकर (और)	शुचीनाम्	= शुद्ध (ममतारहित)
पुण्यकृताम्	= पुण्यकर्म करनेवालोंके	शाश्वतीः	= (वहाँ) बहुत	श्रीमताम्	= श्रीमानोंके
लोकान्	= लोकोंको	समाः	= वर्षोत्तक	गेहे	= घरमें
		उषित्वा	= रहकर (फिर यहाँ)	अभिजायते	= जन्म लेता है।

व्याख्या—‘प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्’—जो लोग शास्त्रीय विधि-विधानसे यज्ञ आदि कर्मोंको सांगोपांग करते हैं, उन लोगोंका स्वर्गादि लोकोंपर अधिकार है, इसलिये उन लोकोंको यहाँ ‘पुण्यकर्म करनेवालोंके लोक’ कहा गया है। तात्पर्य है कि उन लोकोंमें पुण्यकर्म करनेवाले ही जाते हैं, पापकर्म करनेवाले नहीं। परन्तु जिन साधकोंको पुण्य-कर्मोंके फलरूप सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है, उनको वे स्वर्गादि लोक विघ्नरूपमें और मुफ्तमें मिलते हैं! तात्पर्य है कि यज्ञादि शुभ कर्म करनेवालोंको परिश्रम करना पड़ता है, उन लोकोंकी याचना—प्रार्थना करनी पड़ती है, यज्ञादि कर्मोंको विधि-विधानसे और सांगोपांग करना पड़ता है, तब कहीं उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है। वहाँ भी उनकी भोगोंकी वासना बनी रहती है; क्योंकि उनका उद्देश्य ही भोग भोगनेका था। परन्तु जो किसी कारणवश अन्तसमयमें साधनसे विचलितमना हो जाते हैं, उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये न तो परिश्रम करना पड़ता है, न उनकी याचना करनी पड़ती है और न उनकी प्राप्तिके लिये यज्ञादि शुभ कर्म ही करने पड़ते हैं। फिर भी उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है। वहाँ रहनेपर भी उनकी वहाँके भोगोंसे अरुचि हो जाती है; क्योंकि उनका उद्देश्य भोग भोगनेका था ही नहीं। वे तो केवल सांसारिक सूक्ष्म वासनाके कारण उन लोकोंमें जाते हैं। परन्तु उनकी वह वासना भोगी पुरुषोंकी वासनाके समान नहीं होती।

जो केवल भोग भोगनेके लिये स्वर्गमें जाते हैं, वे जैसे भोगोंमें तल्लीन होते हैं, वैसे योगभ्रष्ट तल्लीन नहीं हो सकता। कारण कि भोगोंकी इच्छावाले पुरुष भोगबुद्धिसे भोगोंको स्वीकार करते हैं और योगभ्रष्टको विघ्नरूपसे भोगोंमें जाना पड़ता है।

‘उषित्वा शाश्वतीः समाः’—स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें यज्ञादि शुभकर्म करनेवाले भी (भोग भोगनेके उद्देश्यसे) जाते हैं और योगभ्रष्ट भी जाते हैं। भोग भोगनेके उद्देश्यसे स्वर्गमें जानेवालोंके पुण्य क्षीण होते हैं और पुण्योंके क्षीण होनेपर उन्हें लौटकर मृत्युलोकमें आना पड़ता है। इसलिये वे वहाँ सीमित वर्षोत्तक ही रह सकते हैं। परन्तु जिसका

उद्देश्य भोग भोगनेका नहीं है, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिका है, वह योगभ्रष्ट किसी सूक्ष्म वासनाके कारण स्वर्गमें चला जाय, तो वहाँ उसकी साधन-सम्पत्ति क्षीण नहीं होती। इसलिये वह वहाँ असीम वर्षोत्तक रहता है अर्थात् उसके लिये वहाँ रहनेकी कोई सीमा नहीं होती।

जो भोग भोगनेके उद्देश्यसे ऊँचे लोकोंमें जाते हैं, उनका उन लोकोंमें जाना कर्मजन्य है। परन्तु योगभ्रष्टका ऊँचे लोकोंमें जाना कर्मजन्य नहीं है; किन्तु यह तो योगका प्रभाव है, उनकी साधन-सम्पत्तिका प्रभाव है, उनके सत्-उद्देश्यका प्रभाव है।

स्वर्ग आदिका सुख भोगनेके उद्देश्यसे जो उन लोकोंमें जाते हैं, उनको न तो वहाँ रहनेमें स्वतन्त्रता है और न वहाँसे आनेमें ही स्वतन्त्रता है। उन्होंने भोग भोगनेके उद्देश्यसे ही यज्ञादि कर्म किये हैं, इसलिये उन शुभ कर्मोंका फल जबतक समाप्त नहीं होता, तबतक वे वहाँसे नीचे नहीं आ सकते और शुभ कर्मोंका फल समाप्त होनेपर वे वहाँ रह भी नहीं सकते। परन्तु जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही साधन करनेवाले हैं और केवल अन्तसमयमें योगसे विचलित होनेके कारण स्वर्ग आदिमें गये हैं, उनका वासनाके तारतम्यके कारण वहाँ ज्यादा-कम रहना हो सकता है, पर वे वहाँके भोगोंमें फँस नहीं सकते। कारण कि जब योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है (छठे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक), तब वह योगभ्रष्ट वहाँ फँस ही कैसे सकता है?

‘शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते’—स्वर्गादि लोकोंके भोग भोगनेपर जब भोगोंसे अरुचि हो जाती है, तब वह योगभ्रष्ट लौटकर मृत्युलोकमें आता है और शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। उसके फिर लौटकर आनेमें क्या कारण है? वास्तवमें इसका कारण तो भगवान् ही जानें; किन्तु गीतापर विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि वह मनुष्य-जन्ममें साधन करता रहा। वह साधनको छोड़ना नहीं चाहता था, पर अन्तसमयमें साधन छूट गया। अतः उस साधनका जो महत्त्व उसके अन्तःकरणमें अंकित है, वह स्वर्गादि लोकोंमें भी उस योगभ्रष्टको अज्ञातरूपसे

पुनः साधन करनेके लिये प्रेरित करता रहता है, उकसाता रहता है। इससे उस योगभ्रष्टके मनमें आती है कि मैं साधन करूँ। ऐसी मनमें क्यों आती है—इसका उसको पता नहीं लगता। जब श्रीमानोंके घरमें भोगोंके परवश होनेपर भी पूर्वजन्मका अभ्यास उसको जबर्दस्ती खींच लेता है (छठे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक) तब वह साधन उसको स्वर्ग आदिमें साधनके बिना चैनसे कैसे रहने देगा? अतः भगवान् उसको साधन करनेका मौका देनेके लिये शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म देते हैं।

जिनका धन शुद्ध कमाईका है, जो कभी पराया हक नहीं लेते, जिनके आचरण तथा भाव शुद्ध हैं, जिनके अन्तःकरणमें भोगोंका और पदार्थोंका महत्त्व, उनकी ममता नहीं है, जो सम्पूर्ण पदार्थ, घर, परिवार आदिको साधन-सामग्री समझते हैं, जो भोगबुद्धिसे किसीपर अपना व्यक्तिगत आधिपत्य नहीं जमाते, वे 'शुद्ध श्रीमान्' कहे जाते हैं। जो धन और भोगोंपर अपना आधिपत्य जमाते हैं, वे अपनेको तो उन धन और पदार्थोंका मालिक मानते हैं, पर हो जाते हैं उनके गुलाम! इसलिये वे शुद्ध श्रीमान् नहीं हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तो भगवान्ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार योगभ्रष्टकी गति बतायी। अब आगेके श्लोकमें 'अथवा' कहकर अपनी ही तरफसे दूसरे योगभ्रष्टकी बात कहते हैं।

**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।  
एतद्भिर्दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥**

अथवा	= अथवा (वैराग्यवान् योगभ्रष्ट)	एव	= ही	जन्म	= जन्म है, (यह)
धीमताम्	= ज्ञानवान्	भवति	= जन्म लेता है।	लोके	= संसारमें
योगिनाम्	= योगियोंके	ईदृशम्	= इस प्रकारका	हि	= निःसन्देह
कुले	= कुलमें	यत्	= जो	दुर्लभतरम्	= बहुत ही दुर्लभ है।
		एतत्	= यह		

व्याख्या—[साधन करनेवाले दो तरहके होते हैं—वासनासहित और वासनारहित। जिसको साधन अच्छा लगता है, जिसकी साधनमें रुचि हो जाती है और जो परमात्माकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाकर साधनमें लग भी जाता है, पर अभी उसकी भोगोंमें वासना सर्वथा नहीं मिटी है, वह अन्तसमयमें साधनसे विचलित होनेपर योगभ्रष्ट हो जाता है, तो वह स्वर्गादि लोकोंमें बहुत वर्षोंतक रहकर शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। (इस योगभ्रष्टकी बात पूर्वश्लोकमें बता दी)। दूसरा साधक, जिसके भीतर वासना नहीं है, तीव्र वैराग्य है और जो परमात्माका उद्देश्य रखकर तेजीसे साधनमें लगा है, पर अभी पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है, वह किसी विशेष कारणसे योगभ्रष्ट हो जाता है तो उसको स्वर्ग आदिमें नहीं जाना पड़ता, प्रत्युत वह सीधे ही योगियोंके कुलमें जन्म लेता है (इस योगभ्रष्टकी बात इस श्लोकमें बता रहे हैं)।]

'अथवा'—तुमने जिस योगभ्रष्टकी बात पूछी थी, वह तो मैंने कह दी। परन्तु जो संसारसे विरक्त होकर,

संसारसे सर्वथा विमुख होकर साधनमें लगा हुआ है, वह भी किसी कारणसे, किसी परिस्थितिसे तत्काल मर जाय और उसकी वृत्ति अन्तसमयमें साधनमें न रहे, तो वह भी योगभ्रष्ट हो जाता है। ऐसे योगभ्रष्टकी गतिको मैं यहाँ कह रहा हूँ।

'योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'—जो परमात्म-तत्त्वको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी बुद्धि परमात्मतत्त्वमें स्थिर हो गयी है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें वह वैराग्यवान् योगभ्रष्ट जन्म लेता है।

'कुले' कहनेका तात्पर्य है कि उसका जन्म साक्षात् जीवन्मुक्त योगी महापुरुषके कुलमें ही होता है; क्योंकि श्रुति कहती है कि उस ब्रह्मज्ञानीके कुलमें कोई भी ब्रह्मज्ञानसे रहित नहीं होता अर्थात् सब ब्रह्मज्ञानी ही होते हैं—'नास्याब्रह्मवित् कुले भवति' (मुण्डक० ३। २। ९)।

'एतद्भिर्दुर्लभतरं\* लोके जन्म यदीदृशम्'—उसका यह इस प्रकारका योगियोंके कुलमें जन्म होना इस लोकमें

\* यहाँ 'दुर्लभतरं' शब्दमें 'तरप्' प्रत्यय देनेका तात्पर्य है कि श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले और योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले—इन दोनों योगभ्रष्टोंमेंसे योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेका जन्म अत्यन्त दुर्लभ है।

बहुत ही दुर्लभ है। तात्पर्य है कि शुद्ध सात्त्विक राजाओंके, धनवानोंके और प्रसिद्ध गुणवानोंके घरमें जन्म होना भी दुर्लभ माना जाता है, पुण्यका फल माना जाता है; फिर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त योगी महापुरुषोंके यहाँ जन्म होना तो दुर्लभतर—बहुत ही दुर्लभ है! कारण कि उन योगियोंके कुलमें, घरमें स्वाभाविक ही पारमार्थिक वायुमण्डल रहता है। वहाँ सांसारिक भोगोंकी चर्चा ही नहीं होती। अतः वहाँके वायुमण्डलसे, दृश्यसे, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके संगसे, अच्छी शिक्षा आदिसे उसके लिये साधनमें लगना बहुत सुगम हो जाता है और वह बचपनसे ही साधनमें लग जाता है। इसलिये ऐसे योगियोंके कुलमें जन्म लेनेको दुर्लभतर बताया गया है।

### विशेष बात

यहाँ 'एतत्' और 'ईदृशम्'—ये दो पद आये हैं। 'एतत्' पदसे तो तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट समझना चाहिये (जिसका इस श्लोकमें वर्णन हुआ है) और 'ईदृशम्' पदसे उन तत्त्वज्ञ योगी महापुरुषोंके संगका अवसर जिसको प्राप्त हुआ है—इस प्रकारका साधक समझना चाहिये। संसारमें दो प्रकारकी

प्रजा मानी जाती है—बिन्दुज और नादज। जो माता-पिताके रज-वीर्यसे पैदा होती है, वह 'बिन्दुज प्रजा' कहलाती है; और जो महापुरुषोंके नादसे अर्थात् शब्दसे, उपदेशसे पारमार्थिक मार्गमें लग जाती है, वह 'नादज प्रजा' कहलाती है। यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट 'बिन्दुज' है और तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंका संगप्राप्त साधक 'नादज' है। इन दोनों ही साधकोंको ऐसा जन्म और संग मिलना बड़ा दुर्लभ है।

शास्त्रोंमें मनुष्यजन्मको दुर्लभ बताया है, पर मनुष्यजन्ममें महापुरुषोंका संग मिलना और भी दुर्लभ है।<sup>१</sup> नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्यो-ऽमोघश्च' अर्थात् महापुरुषोंका संग दुर्लभ है, अगम्य है और अमोघ है। कारण कि एक तो उनका संग मिलना कठिन है और भगवान्की कृपासे ऐसा संग मिल भी जाय<sup>२</sup> तो उन महापुरुषोंको पहचानना कठिन है। परन्तु उनका संग किसी भी तरहसे मिल जाय, वह कभी निष्फल नहीं जाता। तात्पर्य है कि महापुरुषोंका संग मिलनेकी दृष्टिसे ही उपर्युक्त दोनों साधकोंको 'दुर्लभतर' बताया गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने वैराग्यवान् योगभ्रष्टका तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म होना बताया। अब वहाँ जन्म होनेके बाद क्या होता है—यह बात आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

कुरुनन्दन = हे कुरुनन्दन!  
तत्र = वहाँपर  
तम् = उसको  
पौर्वदेहिकम् = पहले मनुष्यजन्मकी

बुद्धिसंयोगम् = साधन-सम्पत्ति (अनायास ही)  
लभते = प्राप्त हो जाती है।  
च = फिर

ततः = उससे (वह)  
संसिद्धौ = साधनकी सिद्धिके विषयमें  
भूयः = पुनः (विशेषतासे)  
यतते = यत्न करता है।

व्याख्या—'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्'—तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके कुलमें जन्म होनेके बाद उस वैराग्यवान् साधककी क्या दशा होती है? इस बातको बतानेके लिये यहाँ 'तत्र' पद आया है।

'पौर्वदेहिकम्' तथा 'बुद्धिसंयोगम्' पदोंका तात्पर्य है कि संसारसे विरक्त उस साधकको स्वर्ग आदि लोकोंमें नहीं

जाना पड़ता, उसका तो सीधे योगियोंके कुलमें जन्म होता है। वहाँ उसको अनायास ही पूर्वजन्मकी साधन-सामग्री मिल जाती है। जैसे, किसीको रास्तेपर चलते-चलते नौद आने लगी और वह वहीं किनारेपर सो गया। अब जब वह सोकर उठेगा, तो उतना रास्ता उसका तय किया हुआ ही रहेगा; अथवा किसीने व्याकरणका प्रकरण पढ़ा और बीचमें कई वर्ष पढ़ना

१-दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥ (श्रीमद्भा० ११। २। २९)

२-जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये। (विनयपत्रिका १३६। १०)

छूट गया। जब वह फिरसे पढ़ने लगता है, तो उसका पहले पढ़ा हुआ प्रकरण बहुत जल्दी तैयार हो जाता है, याद हो जाता है। ऐसे ही पूर्वजन्ममें उसका जितना साधन हो चुका है, जितने अच्छे संस्कार पड़ चुके हैं, वे सभी इस जन्ममें प्राप्त हो जाते हैं, जाग्रत् हो जाते हैं।

‘यतते च ततो भूयः संसिद्धौ’—एक तो वहाँ उसको पूर्वजन्मकृत बुद्धिसंयोग मिल जाता है और वहाँका संग अच्छा होनेसे साधनकी अच्छी बातें मिल जाती हैं, साधनकी युक्तियाँ मिल जाती हैं। ज्यों-ज्यों नयी युक्तियाँ मिलती हैं, त्यों-त्यों उसका साधनमें उत्साह बढ़ता है। इस तरह वह सिद्धिके लिये विशेष तत्परतासे यत्न करता है।

अगर इस प्रकरणका अर्थ ऐसा लिया जाय कि ये दोनों ही प्रकारके योगभ्रष्ट पहले स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं। उनमेंसे जिसमें भोगोंकी वासना रही है, वह तो शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है, और जिसमें भोगोंकी वासना नहीं है, वह योगियोंके कुलमें जन्म लेता है, तो प्रकरणके पदोंपर विचार करनेसे यह बात ठीक नहीं बैठती। कारण कि ऐसा अर्थ लेनेसे ‘योगियोंके’ कुलमें जन्म लेनेवालेको

‘पौर्वदेहिक’ बुद्धिसंयोग अर्थात् पूर्वजन्मकृत साधन-सामग्री मिल जाती है—यह कहना नहीं बनेगा। यहाँ ‘पौर्वदेहिक’ कहना तभी बनेगा, जब बीचमें दूसरे शरीरका व्यवधान न हो। अगर ऐसा मानें कि स्वर्गादि लोकोंमें जाकर फिर वह योगियोंके कुलमें जन्म लेता है, तो उसको ‘पूर्वाभ्यास’ कह सकते हैं (जैसा कि श्रीमानोंके घर जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टके लिये आगेके श्लोकमें कहा है), पर ‘पौर्वदेहिक’ नहीं कह सकते। कारण कि उसमें स्वर्गादिका व्यवधान पड़ जायगा और स्वर्गादि लोकोंके देहको पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग नहीं कह सकते; क्योंकि उन लोकोंमें भोग-सामग्रीकी बहुलता होनेसे वहाँ साधन बननेका प्रश्न ही नहीं है। अतः वे दोनों योगभ्रष्ट स्वर्गादिमें जाकर आते हैं—यह कहना प्रकरणके अनुसार ठीक नहीं बैठता।

दूसरी बात, जिसमें भोगोंकी वासना है, उसका तो स्वर्ग आदिमें जाना ठीक है; परन्तु जिसमें भोगोंकी वासना नहीं है और जो अन्तसमयमें किसी कारणवश साधनसे विचलित हो गया है, ऐसे साधकको स्वर्ग आदिमें भेजना तो उसको दण्ड देना है, जो कि सर्वथा अनुचित है।

**परिशिष्ट भाव**—पारमार्थिक उन्नति ‘स्व’ की है और सांसारिक उन्नति ‘पर’ की है। इसलिये सांसारिक पूँजी तो नष्ट हो जाती है, पर पारमार्थिक पूँजी (साधन) योगभ्रष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती। पारमार्थिक उन्नति ढक सकती है, पर मिटती नहीं और समय पाकर प्रकट हो जाती है।

पूर्वजन्ममें किये साधनके जो संस्कार बुद्धिमें बैठे हुए हैं, उनको यहाँ ‘बुद्धिसंयोग’ कहा गया है।

*सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह बताया कि तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेको पूर्वजन्मकृत बुद्धिसंयोग प्राप्त हो जाता है और वह साधनमें तत्परतासे लग जाता है। अब शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी क्या दशा होती है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।*

**पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्यियते ह्यवशोऽपि सः।**

**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥**

सः	= वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य)	पूर्वाभ्यासेन	= पहले मनुष्यजन्ममें किये हुए अभ्यास (साधन)-के कारण	योगस्य	= योग (समता)-का
अवशः	= (भोगोंके) परवश होता हुआ	एव	= ही	जिज्ञासुः	= जिज्ञासु
अपि	= भी	ह्यियते	= (परमात्माकी तरफ) खिंच जाता है;	अपि	= भी
तेन	= उस	हि	= क्योंकि	शब्दब्रह्म	= वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका
				अतिवर्तते	= अतिक्रमण कर जाता है।

**व्याख्या—**‘पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्यियते ह्यवशोऽपि सः’—योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टको जैसी साधनकी सुविधा मिलती है, जैसा वायुमण्डल मिलता है, जैसा संग मिलता है, जैसी शिक्षा मिलती है, वैसी साधनकी

सुविधा, वायुमण्डल, संग, शिक्षा आदि श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालोंको नहीं मिलती। परन्तु स्वर्गादि लोकोंमें जानेसे पहले मनुष्य-जन्ममें जितना योगका साधन किया है, सांसारिक भोगोंका त्याग किया है, उसके अन्तःकरणमें जितने अच्छे संस्कार पड़े हैं, उस मनुष्य-जन्ममें किये हुए अभ्यासके कारण ही भोगोंमें आसक्त होता हुआ भी वह परमात्माकी तरफ जबर्दस्ती खिंच जाता है।

‘अवशोऽपि’ कहनेका तात्पर्य है कि वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेसे पहले बहुत वर्षोंतक स्वर्गादि लोकोंमें रहा है। वहाँ उसके लिये भोगोंकी बहुलता रही है और यहाँ (साधारण घरोंकी अपेक्षा) श्रीमानोंके घरमें भी भोगोंकी बहुलता है। उसके मनमें जो भोगोंकी आसक्ति है, वह भी अभी सर्वथा मिटी नहीं है, इसलिये वह भोगोंके परवश हो जाता है। परवश होनेपर भी अर्थात् इन्द्रियाँ, मन आदिका भोगोंकी तरफ आकर्षण होते रहनेपर भी पूर्वके अभ्यास आदिके कारण वह जबर्दस्ती परमात्माकी तरफ खिंच जाता है। कारण यह है कि भोग-वासना कितनी ही प्रबल क्यों न हो, पर वह है ‘असत्’ ही। उसका जीवके सत्-स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जितना ध्यानयोग आदि साधन किया है, साधनके जितने संस्कार हैं वे कितने ही साधारण क्यों न हों, पर वे हैं ‘सत्’ ही। वे सभी जीवके सत्-स्वरूपके अनुकूल हैं। इसलिये वे संस्कार भोगोंके परवश हुए योगभ्रष्टको भीतरसे खींचकर परमात्माकी तरफ लगा ही देते हैं।

‘जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते’—इस प्रकरणमें अर्जुनका प्रश्न था कि साधनमें लगा हुआ शिथिल प्रयत्नवाला साधक अन्तसमयमें योगसे विचलित हो जाता है तो वह योगकी संसिद्धिको प्राप्त न होकर किस गतिको जाता है अर्थात् उसका कहीं पतन तो नहीं हो जाता? इसके उत्तरमें भगवान्ने इस लोकमें और परलोकमें योगभ्रष्टका पतन न होनेकी बात इस श्लोकके पूर्वार्धतक कही। अब इस श्लोकके उत्तरार्धमें योगमें लगे हुए योगीकी वास्तविक महिमा कहनेके लिये योगके जिज्ञासुकी महिमा कहते हैं।

जब योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्म और उनके फलोंका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् उनसे ऊपर उठ जाता है, फिर योगभ्रष्टके लिये तो कहना ही क्या है! अर्थात् उसके पतनकी कोई शंका ही नहीं है। वह

योगमें प्रवृत्त हो चुका है; अतः उसका तो अवश्य उद्धार होगा ही।

यहाँ ‘जिज्ञासुरपि योगस्य’ पदोंका अर्थ होता है कि जो अभी योगभ्रष्ट भी नहीं हुआ है और योगमें प्रवृत्त भी नहीं हुआ है; परन्तु जो योग-(समता-) को महत्त्व देता है और उसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका\* अर्थात् वेदोंके सकाम कर्मके भागका अतिक्रमण कर जाता है।

योगका जिज्ञासु वह है, जो भोग और संग्रहको साधारण लोगोंकी तरह महत्त्व नहीं देता, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करके योगको अधिक महत्त्व देता है। उसकी भोग और संग्रहकी रुचि मिटी नहीं है, पर सिद्धान्तसे योगको ही महत्त्व देता है। इसलिये वह योगारूढ़ तो नहीं हुआ है, पर योगका जिज्ञासु है, योगको प्राप्त करना चाहता है। इस जिज्ञासामात्रका यह माहात्म्य है कि वह वेदोंमें कहे सकाम कर्मोंसे और उनके फलसे ऊँचा उठ जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जो यहाँके भोगोंकी और संग्रहकी रुचि सर्वथा मिटा न सके और तत्परतासे योगमें भी न लग सके, उसकी भी इतनी महत्ता है, तो फिर योगभ्रष्टके विषयमें तो कहना ही क्या है! ऐसी ही बात भगवान्ने दूसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें कही है कि योग-(समता-) का आरम्भ भी नष्ट नहीं होता और उसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। फिर जो योगमें प्रवृत्त हो चुका है, उसका पतन कैसे हो सकता है? उसका तो कल्याण होगा ही, इसमें सन्देह नहीं है।

### विशेष बात

(१) ‘योगभ्रष्ट’ बहुत विशेषतावाले मनुष्यका नाम है। कैसी विशेषता? कि मनुष्योंमें हजारों और हजारोंमें कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है (गीता—सातवें अध्यायका तीसरा श्लोक) तथा सिद्धिके लिये यत्न करनेवाला ही योगभ्रष्ट होता है।

योगमें लगनेवालेकी बड़ी महिमा है। इस योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोक आदि लोकोंसे भी उसकी अरुचि हो जाती है। कारण कि ब्रह्मलोक आदि सभी लोक पुनरावर्ती हैं और वह अपुनरावर्ती चाहता है। जब योगकी जिज्ञासामात्र होनेकी इतनी महिमा है, तो फिर योगभ्रष्टकी

\* वेदोंमें जो साधन-सामग्री है, उसको इस ‘शब्दब्रह्म’के अन्तर्गत नहीं लेना चाहिये।

कितनी महिमा होनी चाहिये! कारण कि उसके उद्देश्यमें योग (समता) आ गयी है, तभी तो वह योगभ्रष्ट हुआ है।

इस योगभ्रष्टमें महिमा योगकी है, न कि भ्रष्ट होनेकी। जैसे कोई 'आचार्य' की परीक्षामें फेल हो गया हो, वह क्या 'शास्त्री' और 'मध्यमा' की परीक्षामें पास होनेवालेसे नीचा होगा? नहीं होगा। ऐसे ही जो योगभ्रष्ट हो गया है, वह सकामभावसे बड़े-बड़े यज्ञ, दान, तप आदि करनेवालोंसे नीचा नहीं होता, प्रत्युत बहुत श्रेष्ठ होता है। कारण कि उसका उद्देश्य समता हो गया है। बड़े-बड़े यज्ञ, दान, तपस्या आदि करनेवालोंको लोग बड़ा मानते हैं, पर वास्तवमें बड़ा वही है, जिसका उद्देश्य समताका है। समताका उद्देश्यवाला शब्दब्रह्मका भी अतिक्रमण कर जाता है।

इस योगभ्रष्टके प्रसंगसे साधकोंको उत्साह दिलानेवाली एक बड़ी विचित्र बात मिलती है कि अगर साधक 'हमें तो परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है'—ऐसा दृढ़तासे विचार कर लें, तो वे शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जायँगे!

(२) यदि साधक आरम्भमें 'समता'को प्राप्त न भी कर सके, तो भी उसको अपनी रुचि या उद्देश्य समता-प्राप्तिका ही रखना चाहिये; जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।

चहिअ अमिअ जग जुड़ न छाछी॥

(मानस १।८।४)

**परिशिष्ट भाव**—सांसारिक पुण्य तो पापकी अपेक्षासे (द्वन्द्ववाला) है, पर भगवान्के सम्बन्ध (सत्संग, भजन आदि)—से होनेवाला पुण्य (योग्यता, सामर्थ्य) विलक्षण है। इसलिये सांसारिक पुण्य मनुष्यको भगवान्में नहीं लगाता, पर भगवत्सम्बन्धी पुण्य मनुष्यको भगवान्में ही लगाता है। यह पुण्य फल देकर नष्ट नहीं होता (गीता २।४०)। सांसारिक कामनाओंका त्याग करना और भगवान्की तरफ लगना—दोनों ही भगवत्सम्बन्धी पुण्य हैं।

'पूर्वाभ्यासेन तेनैव' पदोंका तात्पर्य है कि वर्तमान जन्ममें सत्संग, सच्चर्चा आदि न होनेपर भी केवल पूर्वाभ्यासके कारण वह परमात्तामें लग जाता है। इस पूर्वाभ्यासमें क्रिया (प्रवृत्ति) नहीं है, प्रत्युत गति है\*। **जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते** में भी क्रियावाला अभ्यास न होकर गतिवाला अभ्यास है। तात्पर्य है कि इस अभ्यासमें प्रयत्न भी नहीं है और कर्तृत्व भी नहीं है, पर गति है। गतिमें स्वतः परमात्माकी ओर खींचनेकी शक्ति है। क्रियावाला अभ्यास किया जाता है और गतिवाला अभ्यास स्वतः होता है।

सम्बन्ध—श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेके बाद जब वह योगभ्रष्ट परमात्माकी तरफ खिंचता है, तब उसकी क्या दशा होती है? यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।**

**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥**

\* गति और प्रवृत्तिका भेद जाननेके लिये पन्द्रहवें अध्यायके छठे श्लोकका परिशिष्ट भाव देखना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि साधक चाहे जैसा हो, पर उसकी रुचि या उद्देश्य सदैव ऊँचा रहना चाहिये। साधककी रुचि या उद्देश्यपूर्तिकी लगन जितनी तेज, तीव्र होगी, उतनी ही जल्दी उसके उद्देश्यकी सिद्धि होगी। भगवान्का स्वभाव है कि वे यह नहीं देखते कि साधक करता क्या है, प्रत्युत यह देखते हैं कि साधक चाहता क्या है—

.....

**रीडत राम जानि जन जी की॥**

**रहति न प्रभु चित चूक किए की।**

**करत सुरति सय बार हिए की॥**

(मानस १।२९।२-३)

एक प्रज्ञाचक्षु सन्त रोज मन्दिरमें (भगवद्ग्रहका दर्शन करने) जाया करते थे। एक दिन जब वे मन्दिर गये, तब किसीने पूछ लिया कि आप यहाँ किसलिये आते हैं? सन्तने उत्तर दिया कि दर्शन करनेके लिये आता हूँ। उसने कहा कि आपको तो दिखायी ही नहीं देता! सन्त बोले—मुझे दिखायी नहीं देता तो क्या भगवान्को भी दिखायी नहीं देता? मैं उन्हें नहीं देखता, पर वे तो मुझे देखते हैं; बस, इसीसे मेरा काम बन जायगा।

इसी तरह हम समताको प्राप्त भले ही न कर सकें, फिर भी हमारी रुचि या उद्देश्य समताका ही रहना चाहिये, जिसको भगवान् देखते ही हैं! अतः हमारा काम जरूर बन जायगा।



तु	= परन्तु	किल्बिषः	= जिसके पाप	वह योगी
योगी	= जो योगी		नष्ट हो गये	ततः
प्रयत्नात्	= प्रयत्नपूर्वक		हैं (तथा)	पराम्
यतमानः	= यत्न करता है	अनेक-		गतिम्
	(और)	जन्मसंसिद्धः	= जो अनेक जन्मोंसे	याति
संशुद्ध-			सिद्ध हुआ है,	
				= प्राप्त हो
				जाता है।

**व्याख्या**—[वैराग्यवान् योगभ्रष्ट तो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त योगियोंके कुलमें जन्म लेने और वहाँ विशेषतासे यत्न करनेके कारण सुगमतासे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परन्तु श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट परमात्माको कैसे प्राप्त होता है? इसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं।]

‘तु’—इस पदका तात्पर्य है कि योगका जिज्ञासु भी जब वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है, उनसे ऊँचा उठ जाता है, तब जो योगमें लगा हुआ है और तत्परतासे यत्न करता है, वह वेदोंसे ऊँचा उठ जाय और परमगतिको प्राप्त हो जाय, इसमें तो सन्देह ही क्या है!

‘योगी’—जो परमात्मतत्त्वको, समताको चाहता है और राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंमें नहीं फँसता, वह योगी है।

‘प्रयत्नाद्यतमानः’—प्रयत्नपूर्वक यत्न करनेका तात्पर्य है कि उसके भीतर परमात्माकी तरफ चलनेकी जो उत्कण्ठा है, लगन है, उत्साह है, तत्परता है, वह दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहती है। साधनमें उसकी निरन्तर सजगता रहती है।

श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पूर्वाभ्यासके कारण परमात्माकी तरफ खिंचता है और वर्तमानमें भोगोंके संगसे संसारकी तरफ खिंचता है। अगर वह प्रयत्नपूर्वक शूरवीरतासे भोगोंका त्याग कर दे, तो फिर वह परमात्माको प्राप्त कर लेगा। कारण कि जब योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है, तो फिर जो तत्परतासे साधनमें लग जाता है, उसका तो कहना ही क्या है! जैसे निषिद्ध आचरणमें लगा हुआ पुरुष एक बार चोट खानेपर

फिर विशेष जोरसे परमात्मामें लग जाता है, ऐसे ही योगभ्रष्ट भी श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेपर विशेष जोरसे परमात्मामें लग जाता है।

‘संशुद्धकिल्बिषः’—उसके अन्तःकरणके सब दोष, सब पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् परमात्माकी तरफ लगन होनेसे उसके भीतर भोग, संग्रह, मान, बड़ाई आदिकी इच्छा सर्वथा मिट गयी है।

जो प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है, उसके प्रयत्नसे ही यह मालूम होता है कि उसके सब पाप नष्ट हो चुके हैं।

‘अनेकजन्मसंसिद्धः’<sup>१</sup>—पहले मनुष्यजन्ममें योगके लिये यत्न करनेसे शुद्धि हुई, फिर अन्तसमयमें योगसे विचलित होकर स्वर्गादि लोकोंमें गया तथा वहाँ भोगोंसे अरुचि होनेसे शुद्धि हुई और फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेकर परमात्मप्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करनेसे शुद्धि हुई। इस प्रकार तीन जन्मोंमें शुद्ध होना ही अनेकजन्मसंसिद्ध होना है<sup>२</sup>।

‘ततो याति परां गतिम्’—इसलिये वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जिसको प्राप्त होनेपर उससे बढ़कर कोई भी लाभ माननेमें नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर भयंकर-से-भयंकर दुःख भी विचलित नहीं कर सकता (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)—ऐसे आत्यन्तिक सुखको वह प्राप्त हो जाता है।

### मार्मिक बात

वास्तवमें देखा जाय तो मनुष्यमात्र अनेक-जन्म-संसिद्ध है। कारण कि इस मनुष्यशरीरके पहले अगर वह स्वर्गादि लोकोंमें गया है, तो वहाँ शुभ कर्मोंका फल भोगनेसे उसके स्वर्गप्रापक पुण्य समाप्त हो गये और वह

१-‘अनेकजन्म’ का अर्थ है—‘न एकजन्म इति अनेकजन्म’ अर्थात् एकसे अधिक जन्म। उपर्युक्त योगीके अनेक जन्म हो ही गये हैं। ‘संसिद्धः’ पदमें भूतकालका ‘क्त’ प्रत्यय होनेसे इसका अर्थ है—वह योगी अनेक जन्मोंमें संसिद्ध (शुद्ध) हो चुका है।

२-ऐसे ही वैराग्यवान् योगभ्रष्टके पहले मनुष्यजन्ममें संसारसे विरक्त होनेसे शुद्धि हुई और फिर यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेकर परमात्मप्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करनेसे शुद्धि हुई। इस प्रकार दो जन्मोंमें शुद्ध होना उसका अनेकजन्मसंसिद्ध होना है।

पुण्योंसे शुद्ध हो गया। अगर वह नरकोंमें गया है, तो वहाँ नारकीय यातना भोगनेसे उसके नरकप्रापक पाप समाप्त हो गये और वह पापोंसे शुद्ध हो गया। अगर वह चौरासी लाख योनियोंमें गया है, तो वहाँ उस-उस योनिके रूपमें अशुभ कर्मोंका, पापोंका फल भोगनेसे उसके मनुष्येतर योनिप्रापक पाप कट गये और वह शुद्ध हो गया\*। इस प्रकार यह जीव अनेक जन्मोंमें पुण्यों और पापोंसे शुद्ध हुआ है। यह शुद्ध होना ही इसका 'संसिद्ध' होना है।

दूसरी बात, मनुष्यमात्र प्रयत्नपूर्वक यत्न करके परम-गतिको प्राप्त कर सकता है, अपना कल्याण कर सकता है। कारण कि भगवान्ने यह अन्तिम जन्म इस मनुष्यको केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही दिया है। अगर यह मनुष्य अपना कल्याण करनेका अधिकारी नहीं होता, तो भगवान् इसको मनुष्यजन्म ही क्यों देते ? अब जब मनुष्यशरीर दिया है, तो यह मुक्तिका पात्र है ही। अतः मनुष्यमात्रको अपने उद्धारके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—योगभ्रष्टका इस लोक और परलोकमें पतन नहीं होता; योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है—यह जो भगवान्ने महिमा कही है, यह महिमा भ्रष्ट होनेकी नहीं है, प्रत्युत योगकी है। अतः अब आगेके श्लोकमें उसी योगकी महिमा कहते हैं।

**तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।**

**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥**

<b>तपस्विभ्यः</b>	= (सकामभाववाले) तपस्वियोंसे (भी)	<b>अपि</b>	= भी	<b>मतः</b>	= (ऐसा मेरा) मत है।
<b>योगी</b>	= योगी	<b>अधिकः</b>	= (योगी) श्रेष्ठ है	<b>तस्मात्</b>	= अतः
<b>अधिकः</b>	= श्रेष्ठ है,	<b>च</b>	= और	<b>अर्जुन</b>	= हे अर्जुन! (तू)
<b>ज्ञानिभ्यः</b>	= ज्ञानियोंसे	<b>कर्मिभ्यः</b>	= कर्मियोंसे भी	<b>योगी</b>	= योगी
		<b>योगी</b>	= योगी	<b>भव</b>	= हो जा।
		<b>अधिकः</b>	= श्रेष्ठ है—		

**व्याख्या—**'तपस्विभ्योऽधिको योगी'—ऋद्धि-सिद्धि आदिको पानेके लिये जो भूख-प्यास, सरदी-गरमी आदिका कष्ट सहते हैं, वे तपस्वी हैं। इन सकाम तपस्वियोंसे पारमार्थिक रुचिवाला, ध्येयवाला योगी श्रेष्ठ है।

**'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः'**—शास्त्रोंको जाननेवाले पढ़े-लिखे विद्वानोंको यहाँ 'ज्ञानी' समझना चाहिये। जो शास्त्रोंका विवेचन करते हैं, ज्ञानयोग क्या है? कर्मयोग क्या है? भक्तियोग क्या है? लययोग क्या है? आदि-आदि बहुत-सी बातें जानते हैं और कहते भी हैं; परन्तु जिनका उद्देश्य सांसारिक भोग और ऐश्वर्य है, ऐसे सकाम शब्दज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ माना गया है।

**'कर्मिभ्यश्चाधिको योगी'**—इस लोकमें राज्य मिल जाय, धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, भोग आदि मिल जाय और मरनेके बाद परलोकमें ऊँचे-ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति हो जाय और उन लोकोंका सुख मिल जाय—ऐसा उद्देश्य रखकर जो कर्म करते हैं अर्थात् सकामभावसे यज्ञ, दान,

तीर्थ आदि शास्त्रीय कर्मोंको करते हैं, उन कर्मियोंसे योगी श्रेष्ठ है।

जो संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो गया है; वही वास्तवमें योगी है। ऐसा योगी बड़े-बड़े तपस्वियों, शास्त्रज्ञ पण्डितों और कर्मकाण्डियोंसे भी ऊँचा है, श्रेष्ठ है। कारण कि तपस्वियों आदिका उद्देश्य संसार है तथा सकामभाव है और योगीका उद्देश्य परमात्मा है तथा निष्कामभाव है।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं अर्थात् तपस्वियोंमें सहिष्णुताकी, ज्ञानियोंमें शास्त्रीय ज्ञानकी अर्थात् बुद्धिके ज्ञानकी और कर्मियोंमें शास्त्रीय क्रियाकी प्रधानता है। इन तीनोंमें सकामभाव होनेसे ये तीनों योगी नहीं हैं, प्रत्युत भोगी हैं। अगर ये तीनों निष्कामभाववाले योगी होते, तो भगवान् इनके साथ योगीकी तुलना नहीं करते; इन तीनोंसे योगीको श्रेष्ठ नहीं बताते।

**'तस्माद्योगी भवार्जुन'**—अभीतक भगवान्ने जिसकी

\* जीव इस मनुष्यजन्ममें ही अपने उद्धारके लिये मिले हुए अवसरका दुरुपयोग करके अर्थात् पाप, अन्याय करके अशुद्ध होता है। स्वर्ग, नरक तथा अन्य योनियोंमें इस प्राणीकी शुद्धि-ही-शुद्धि होती है, अशुद्धि होती ही नहीं।

महिमा गायी है; उसके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं कि 'हे अर्जुन! तू योगी हो जा, राग-द्वेषसे रहित हो जा अर्थात् सब काम करते हुए भी जलमें कमलके पत्तेके तरह निर्लिप्त रह।' यही बात भगवान्ने आगे आठवें अध्यायमें भी कही है—'योगयुक्तो भवार्जुन' (८। २७)।

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रार्थना की थी कि

**परिशिष्ट भाव**—भोगीका विभाग अलग है और योगीका विभाग अलग है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। जिनमें सकामभाव होता है, वे भोगी होते हैं और जिनमें निष्कामभाव होता है, वे योगी होते हैं। इसलिये सकामभाववाले तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी निष्कामभाववाला योगी श्रेष्ठ है।

*सम्बन्ध*—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने योगीकी प्रशंसा करके अर्जुनको योगी होनेकी आज्ञा दी। परन्तु कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, भक्तियोगी आदिमेंसे कौन-सा योगी होना चाहिये—इसके लिये अर्जुनको स्पष्टरूपसे आज्ञा नहीं दी। इसलिये अब भगवान् आगेके श्लोकमें 'अर्जुन भक्तियोगी बने'—इस उद्देश्यसे भक्तियोगीकी विशेष महिमा कहते हैं।

## योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

सर्वेषाम्	= सम्पूर्ण	मद्गतेन	= मुझमें तल्लीन	सः	= वह
योगिनाम्	= योगियोंमें		हुए	मे	= मेरे
अपि	= भी	अन्तरात्मना	= मनसे	मतः	= मतमें
यः	= जो	माम्	= मेरा	युक्ततमः	= सर्वश्रेष्ठ
श्रद्धावान्	= श्रद्धावान् भक्त	भजते	= भजन करता है,		योगी है।

*व्याख्या*—'योगिनामपि सर्वेषाम्'—जिनमें जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी मुख्यता है, जो कर्मयोग, सांख्ययोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग आदि साधनोंके द्वारा अपने स्वरूपकी प्राप्ति-(अनुभव-) में ही लगे हुए हैं, वे योगी सकाम तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे श्रेष्ठ हैं। परन्तु उन सम्पूर्ण योगियोंमें भी केवल मेरे साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ है।

'यः श्रद्धावान्'—जो मेरेपर श्रद्धा और विश्वास करता है अर्थात् जिसके भीतर मेरी ही सत्ता और महत्ता है, ऐसा वह श्रद्धावान् भक्त मेरेमें लगे हुए मनसे मेरा भजन करता है।

'मद्गतेनान्तरात्मना मां भजते'—मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस प्रकार जब स्वयंका भगवान्में अपनापन हो जाता है, तब मन स्वतः ही भगवान्में लग जाता है, तल्लीन हो जाता है। जैसे विवाह होनेपर लड़कीका मन स्वाभाविक ही ससुरालमें लग जाता है, ऐसे ही भगवान्में अपनापन होनेपर भक्तका मन स्वाभाविक ही भगवान्में लग जाता है, मनको लगाना नहीं पड़ता। फिर खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते आदि

आप मेरे लिये एक निश्चित श्रेयकी बात कहिये। इसपर भगवान्ने सांख्ययोग, कर्मयोग, ध्यानयोगकी बातें बतायीं, पर इस श्लोकसे पहले कहीं भी अर्जुनको यह आज्ञा नहीं दी कि तुम ऐसे बन जाओ, इस मार्गमें लग जाओ। अब यहाँ भगवान् अर्जुनकी प्रार्थनाके उत्तरमें आज्ञा देते हैं कि 'तुम योगी हो जाओ'; क्योंकि यही तुम्हारे लिये एक निश्चित श्रेय है।

सभी क्रियाओंमें मन भगवान्का ही चिन्तन करता है, भगवान्में ही लगा रहता है।

जो केवल भगवान्का ही हो जाता है, जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं रहता, उसकी साधन-भजन, जप-कीर्तन, श्रवण-मनन आदि सभी पारमार्थिक क्रियाएँ; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि सभी शारीरिक क्रियाएँ और खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी क्रियाएँ भजन हो जाती हैं।

अनन्यभक्तके भजनका स्वरूप भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें बताया है कि वह भक्त मेरी प्रसन्नताके लिये ही सभी कर्म करता है, सदा मेरे ही परायण रहता है, केवल मेरा ही भक्त है, संसारका भक्त नहीं है, संसारकी आसक्तिको सर्वथा छोड़ देता है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित हो जाता है।

'स मे युक्ततमो मतः'—संसारसे विमुख होकर अपना उद्धार करनेमें लगनेवाले जितने योगी (साधक) हो सकते हैं, वे सभी 'युक्त' हैं। जो सगुण-निराकारकी अर्थात् व्यापकरूपसे सबमें परिपूर्ण परमात्माकी शरण लेते हैं, वे सभी 'युक्ततर' हैं। परन्तु जो केवल मुझ सगुण भगवान्के

ही शरण होते हैं, वे मेरी मान्यतामें 'युक्ततम' हैं।

वह भक्त युक्ततम तभी होगा, जब कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सभी योग उसमें आ जायँगे। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌में तल्लीन हुए मनसे भजन करनेपर उसमें सभी योग आ जाते हैं। कारण कि भगवान्‌ महायोगेश्वर हैं, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर हैं, तो महायोगेश्वरके शरण होनेपर शरणागतका कौन-सा योग बाकी रहेगा? वह तो सम्पूर्ण योगोंसे युक्त हो जाता है। इसलिये भगवान्‌ उसको युक्ततम कहते हैं।

युक्ततम भक्त कभी योगभ्रष्ट हो ही नहीं सकता। कारण कि उसका मन भगवान्‌को नहीं छोड़ता, तो भगवान्‌ भी उसको नहीं छोड़ सकते। अन्तसमयमें वह पीड़ा, बेहोशी आदिके कारण भगवान्‌को याद न कर सके, तो भगवान्‌ उसको याद करते हैं\*; अतः वह योगभ्रष्ट हो ही कैसे सकता है?

तात्पर्य है कि जो संसारसे सर्वथा विमुख होकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, जिसको अपने बलका, उद्योगका, साधनका सहारा, विश्वास और अभिमान नहीं है, ऐसे भक्तको भगवान्‌ योगभ्रष्ट नहीं होने देते; क्योंकि वह भगवान्‌पर ही निर्भर होता है। जिसके अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व है तथा जिसको अपने पुरुषार्थका सहारा, विश्वास और अभिमान है, उसीके योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। कारण कि अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व होनेपर परमात्माका ध्यान करते हुए भी मन संसारमें चला जाता है। इस प्रकार अगर प्राण छूटते समय मन संसारमें चला जाय, तो वह योगभ्रष्ट हो जाता है। अगर अपने बलका सहारा, विश्वास और अभिमान न हो, तो मन संसारमें जानेपर भी वह योगभ्रष्ट नहीं होता। कारण कि ऐसी अवस्था आनेपर (मन संसारमें जानेपर) वह भगवान्‌को पुकारता है। अतः ऐसे भगवान्‌पर निर्भर भक्तका चिन्तन भगवान्‌ स्वयं करते हैं, जिससे वह योगभ्रष्ट नहीं होता; प्रत्युत भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ भक्तियोगीको सर्वश्रेष्ठ बतानेसे यह सिद्ध होता है कि दूसरे जितने योगी हैं, उनकी पूर्णतामें कुछ-

न-कुछ कमी रहती होगी? संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे सभी योगी बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, निर्विकार हो जाते हैं और परम सुख, परम शान्ति, परम आनन्दका अनुभव करते हैं—इस दृष्टिसे तो किसीकी भी पूर्णतामें कोई कमी नहीं रहती। परन्तु जो अन्तरात्मासे भगवान्‌में लग जाता है, भगवान्‌के साथ ही अपनापन कर लेता है, उसमें भगवत्प्रेम प्रकट हो जाता है। वह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है तथा सापेक्ष वृद्धि, क्षति और पूर्तिसे रहित है। ऐसा प्रेम प्रकट होनेसे ही भगवान्‌ने उसको सर्वश्रेष्ठ माना है।

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि सांख्ययोग और योग—इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है? तो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार वहाँपर कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया। परन्तु अर्जुनके लिये कौन-सा योग श्रेष्ठ है, यह बात नहीं बतायी। उसके बाद सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधना कैसी चलती है—इसका विवेचन करके छठे अध्यायके आरम्भमें कर्मयोगकी विशेष महिमा कही। जो तत्त्व (समता) कर्मयोगसे प्राप्त होता है, वही तत्त्व ध्यानयोगसे भी प्राप्त होता है—इस बातको लेकर ध्यानयोगका वर्णन किया। ध्यानयोगमें मनकी चंचलता बाधक होती है—इस बातको लेकर अर्जुनने मनके विषयमें प्रश्न किया। इसका उत्तर भगवान्‌ने संक्षेपसे दे दिया। फिर अर्जुनने पूछा कि योगका साधन करनेवाला अगर अन्तसमयमें योगसे विचलितमना हो जाय तो उसकी क्या दशा होती है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन किया और छियालीसवें श्लोकमें योगीकी विशेष महिमा कहकर अर्जुनको योगी बननेके लिये स्पष्टरूपसे आज्ञा दी। परन्तु मेरी मान्यतामें कौन-सा योग श्रेष्ठ है—यह बात भगवान्‌ने यहाँतक स्पष्टरूपसे नहीं कही। अब यहाँ अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ अपनी मान्यताकी बात अपनी ही तरफसे (अर्जुनके पूछे बिना ही) कहते हैं कि मैं तो भक्तियोगीको श्रेष्ठ मानता हूँ—'स मे युक्ततमो मतः।' परन्तु ऐसा स्पष्टरूपसे कहनेपर भी अर्जुन भगवान्‌की बातको पकड़ नहीं पाये। इसलिये अर्जुन आगे बारहवें अध्यायके आरम्भमें पुनः प्रश्न

\* भगवान्‌ कहते हैं—

ततस्तं प्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

'काष्ठ और पाषाणके सदृश प्रियमाण उस भक्तका मैं स्वयं स्मरण करता हूँ और उसको परमगति प्रदान करता हूँ।' कफवातादिदोषेण मद्भक्तो न च मां स्मरेत्। तस्य स्मराम्यहं नो चेत् कृतघ्नो नास्ति मत्परः॥

'कफ-वातादि दोषोंके कारण मेरा भक्त यदि मृत्युके समय मेरा स्मरण नहीं कर पाता, तो मैं स्वयं उसका स्मरण करता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूँ, तो मेरेसे बढ़कर कृतघ्न कोई नहीं हो सकता।'

करेंगे कि आपकी भक्ति करनेवाले और अविनाशी निराकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है? तो उत्तरमें भगवान् अपने भक्तको ही श्रेष्ठ बतायेंगे, जैसा कि यहाँ बताया है<sup>१</sup>।

### विशेष बात

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी आदि सभी युक्त हैं अर्थात् सभी संसारसे विमुख हैं और समता-(चेतन-तत्त्व-) के सम्मुख हैं। उनमें भी भक्तियोगी-(भक्त- ) को सर्वश्रेष्ठ बतानेका तात्पर्य है कि यह जीव परमात्माका अंश है, पर संसारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर यह बँध गया है। जब यह संसार-शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धको छोड़ देता है, तब यह स्वाधीन और सुखी हो जाता है। इस स्वाधीनताका भी एक भोग होता है। यद्यपि इस स्वाधीनतामें पदार्थों, व्यक्तियों, क्रियाओं, परिस्थितियों आदिकी कोई पराधीनता नहीं रहती, तथापि इस स्वाधीनताको लेकर जो सुख होता है अर्थात् मेरेमें दुःख नहीं है, संताप नहीं है लेशमात्र भी कोई इच्छा नहीं है—यह जो सुखका भोग होता है, यह स्वाधीनतामें भी परिच्छिन्नता (पराधीनता) है। इसमें संसारके साथ सूक्ष्म सम्बन्ध बना हुआ है। इसलिये इसको 'ब्रह्मभूत अवस्था' कहा गया है (गीता—अठारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)।

जबतक सुखके अनुभवमें स्वतन्त्रता मालूम देती है, तबतक सूक्ष्म अहंकार रहता है। परन्तु इसी स्थितिमें (ब्रह्मभूत अवस्थामें) स्थित रहनेसे वह अहंकार भी मिट जाता है। कारण कि प्रकृति और उसके कार्यके साथ सम्बन्ध न रखनेसे प्रकृतिका अंश 'अहम्' अपने-आप शान्त हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगी, ज्ञानयोगी भी अन्तमें समय पाकर अहंकारसे रहित हो जाते हैं। परन्तु भक्तियोगी तो आरम्भसे ही भगवान्का हो जाता है। अतः उसका अहंकार आरम्भमें ही समाप्त हो जाता है! ऐसी बात

गीतामें भी देखनेमें आती है कि जहाँ सिद्ध कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगीके लक्षणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ कर्मयोगी और ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें तो करुणा और कोमलता देखनेमें नहीं आती, पर भक्तोंके लक्षणोंमें देखनेमें आती है। इसलिये सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें तो 'अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' (१२।१३)—ये पद आये हैं, पर सिद्ध कर्मयोगी और ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें ऐसे पद नहीं आये हैं। तात्पर्य है कि भक्त पहलेसे ही छोटा होकर चलता है<sup>२</sup>, अतः उसमें नम्रता, कोमलता, भगवान्के विधानमें प्रसन्नता आदि विलक्षण बातें साधनावस्थामें ही आ जाती हैं और सिद्धावस्थामें वे बातें विशेषतासे आ जाती हैं। इसलिये भक्तमें सूक्ष्म अहंकार भी नहीं रहता। इन्हीं कारणोंसे भगवान्ने भक्तको सर्वश्रेष्ठ कहा है।

शान्ति, स्वाधीनता आदिका रस चिन्मय होते हुए भी 'अखण्ड' है। परन्तु भक्तिरस चिन्मय होते हुए भी 'प्रतिक्षण वर्धमान' है अर्थात् वह नित्य नवीनरूपसे बढ़ता ही रहता है, कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और पूरा होता नहीं। ऐसे रसकी, प्रेमानन्दकी भूख भगवान्को भी है। भगवान्की इस भूखकी पूर्ति भक्त ही करता है। इसलिये भगवान् भक्तको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

इसमें एक बात और समझनेकी है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दोनोंमें तो साधककी अपनी निष्ठा (स्थिति) होती है, पर भक्तकी अपनी कोई स्वतन्त्र निष्ठा नहीं होती। भक्त तो सर्वथा भगवान्के ही आश्रित रहता है, भगवान्पर ही निर्भर रहता है, भगवान्की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है—'तत्सुखे सुखित्वम्।' उसको अपने उद्धारकी भी चिन्ता नहीं होती। हमारा क्या होगा? इधर उसका ध्यान ही नहीं जाता। ऐसे भगवन्निष्ठ भक्तका सारा भार, सारी देखभाल भगवान्पर ही आती है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'।

**परिशिष्ट भाव**—मनुष्यकी स्थिति वहीं होती है, जहाँ उसके मन-बुद्धि होते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। यहाँ 'मद्गतेनान्तरात्मना' में भक्तका मन भगवान्में लगा है और 'श्रद्धावान्' में उसकी बुद्धि भगवान्में लगी है। अतः भगवान्में गाढ़ आत्मीयता होनेसे ऐसा भक्त भगवान्में ही स्थित है।

१-यहाँ भगवान्ने 'स मे युक्ततमो मतः' कहा है और बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'ते मे युक्ततमा मताः' कहा है। दोनों जगह भगवान्ने एक ही शब्द कहे हैं, केवल वचनोंमें अन्तर है अर्थात् यहाँ एकवचनसे कहा है और वहाँ बहुवचनसे।

२-तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥ ( शिक्षाष्टक )

'अपनेको तृणसे भी नीचा समझकर, वृक्षसे भी सहनशील बनकर, दूसरोंका मान करते हुए और स्वयं मानरहित होकर सदा हरिका नाम-संकीर्तन करे।'

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें भगवान्का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। अपने भक्तके विषयमें ऐसी बात भगवान्ने और जगह भी कही है; जैसे— 'ते मे युक्ततमा मताः' (१२।२), 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' (१२।२०), 'स योगी परमो मतः' (६।३२)।

परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। इतना ही नहीं सभी साधनोंका अन्त भक्तिमें ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि तो साधन हैं, पर भक्ति साध्य है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है। भक्ति प्रत्येक साधनके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपमें रहती है; क्योंकि परमात्मामें आकर्षण हुए बिना कोई मनुष्य साधनमें लग ही नहीं सकता। साधनके अन्तमें भक्ति प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके रूपमें रहती है— 'मद्भक्तिं लभते पराम्' (गीता १८।५४)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-विषयक धर्मको श्रेष्ठ बताया गया है— 'अतस्त्विन्द्रियायो लिंगाच्च' (३।४।३९)।

प्रस्तुत श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनकी भक्ति अलौकिक है! उस भक्तिकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'आत्मसंयमयोग' नामक छठा अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

आत्मसंयम अर्थात् मनका संयमन करनेसे ध्यानयोगीको योग-(समता-) का अनुभव हो जाता है; अतः इस अध्यायका नाम 'आत्मसंयमयोग' रखा गया है।

**छठे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच**

(१) इस अध्यायमें 'अथ षष्ठोऽध्यायः' के तीन, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके दस, श्लोकोंके पाँच सौ तिहत्तर और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ निन्यानबे है।

(२) 'अथ षष्ठोऽध्यायः' के छः, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके तैंतीस, श्लोकोंके एक हजार पाँच सौ चार और पुष्पिकाके सैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार पाँच सौ नब्बे है। इस अध्यायके

सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें पाँच 'उवाच' हैं—तीन 'श्रीभगवानुवाच' और दो 'अर्जुन उवाच'।

**छठे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द**

इस अध्यायके सैंतालीस श्लोकोंमेंसे पहले और छब्बीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला'; दसवें, चौदहवें और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पंद्रहवें, सत्ताईसवें, छत्तीसवें और बयालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला'; और ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष सैंतीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।